स्मारिका

भारतीय इतिहास संकलन समिति

उत्तर प्रदेश

१९८२

5490

सम्पादन

ठाकुर प्रसाद वर्मा

स्मारिका

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

१९८२

फैजाबाद सम्मेलन में पढ़े गये शोधपत्र एवं कार्यवाही

३-४ अगस्त १९८२

सम्पादन

ठाकुर प्रसाद वर्मा

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश
विजयगढ़ हाउस
अस्सी, वाराणसी-२२१००५

प्रकाशक

मंत्री,
भा० इ० सं० स०, उत्तर प्रदेश

5490

© भा० इ० सं० स०, उत्तर प्रदेश

State Museum Library • Lucknow •

१९८३

मूल्य : ३०.०० रुपये

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी

सम्पादकीय

आज अनेक क्षेत्रों में यह अनुभव किया जा रहा है कि भारतीय इतिहास के लेखन का जो कार्य बिदेशी शासकों के पौरोहित्य में प्रारम्भ किया गया था और जिसको भारतीय इतिहासकारों ने भी वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक शोध के नाम पर स्वीकार किया वह अनेक पूर्वाग्रहों से प्रेरित एवं अनेक तथ्यों के अज्ञान अथवा जानबूझ कर की गई उपेक्षा पर आधारित है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण आर्य-द्रविड़ जातियों की समस्या है जो, अब यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि, एक सुविचारित षड्यन्त्र के अन्तंगत प्रतिपादित की गई और इतनी प्रभावी हो गई कि भारतीय वाङ्मय के उद्भट विद्वान भी इसके चंगुल में फस गये और सामान्य जन का चिन्तन भी इससे प्रभावित हुआ। लेकिन तनिक भी विचार करने पर यह ज्ञात हो जायगा कि आर्य और द्रविड़ दोनों ही शब्द भारतीय साहित्य में कहीं भी जाति वाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। विश्व के किसी अन्य साहित्य में भी इन शब्दों का प्रयोग नही हुआ है। यह जानबूझकर फैलाया गया झूठ भारत के मूल निवासियों को आक्रमणकारी सिद्ध करके विदेशी शासन के साम्राज्यवादी चंगुल को तर्कसम्मत सिद्ध करने के दृष्टिकोण से किया गया एक प्रयास था।

दूसरी बात यह है कि इतिहास के भारतीय स्रोतों की अवहेलना की गई तथा विदेशी आक्रमण के कालों को अधिक से अधिक प्रकाशित करने का प्रयास किया गया। बाख्त्री-यूनानियों के आक्रमण का समय हो या कुषाणों-शकों का काल हो भारतीय इतिहासकारों के अधिक से अधिक अवधान का कारण बने और इतर काल खण्डों को अन्धकार का युग कह कर टाल देने की प्रवृत्ति बढ़ी। मुस्लिम आक्रमणकारी इतिहासकारों के स्पष्टतः दुराग्रहपूर्ण उल्लेखों को ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में स्वीकार कर लिया गया तथा स्थानीय अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों को उपेक्षित सा कर दिया गया। शेखी बधारने और झूठे विवरण देने के अतिरिक्त मुस्लिम इतिहासकार अपने संरक्षकों की पराजयों और पीटे जाने की बातों का संकेत तक नही देते हैं। ऐसी अवस्था में जब कुछ उल्लेख भारतीय स्रोतों से मिलते हैं तो उनकी उपेक्षा कर दी जाती है।

जिस प्रकार हमारा समाज अपने राष्ट्रीय एवं सामाजिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय आदर्शों के अभाव से पीड़ित है उसी प्रकार हमारा इतिहासकार भी एक सर्वमान्य राष्ट्रीय आदर्श के अभाव से ग्रसित है। वह अभी तक यह नही तय कर पाया है कि पठान सुल्तान और मुगल सम्राट आक्रमणकारी थे या भारत के संरक्षक। ब्रिटिश इतिहासकारों ने इनको भारतीय सम्राट मान लिया था और हम इसे ध्रुव सत्य मानकर दोहराते चले जा रहे हैं। कुछ इतिहासकार राजनीतिक 'वादों' से पीड़ित हैं और उनका तथा साम्राज्यवादी इतिहासकारों का इतना आतंक है कि बाबर एक विदेशी आक्रमणकारी था यह कहने का साहस नही जुटा पा रहे हैं। राजनीतिक 'वादों' से पीड़ित कुछ इतिहासकारों ने तो आचार्य रमेशचन्द्र मजुमदार जैसे प्रसिद्ध इतिहासकारों को 'सांप्रदायिक इतिहासकार' कहना शुरु भी कर दिया है। ऐसा लग रहा है कि भारतीय इतिहासकार भी राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त वैचारिक अस्पष्टता से ग्रस्त है जिसका मूल कारण है प्रबुद्धवर्ग में आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता का अभाव। ऐसे में भारतीय इतिहास संकलन समिति की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

इस कार्यक्रम के बीज बाबा साहब आपटे स्मारक समिति के तत्वावधान में आयोजित भारतीय इतिहास संकलन योजना में निहित हैं। स्मारक समिति की स्थापना ८ अगस्त १९७३ में की गई थी। तभी

से कुछ लोगों ने इस दिशा में कार्य करना प्रारम्भ कर दिशा था। वाराणसी में 'काशी इतिहास संकलन संस्थान' के नाम से एक कार्यकर्ता ने ऐतिहासिक सामग्री का संकलन प्रारम्भ किया। किन्तु उनके बाहर चले जाने के कारण इस कार्य में शिथिलता आ गई। १९८१ में काशी के इतिहास के एक स्वर्णिम अध्याय के दो सौ वर्ष पूरे हो रहे थे। १५ अगस्त १७८१ के दिन काशी की जनता ने काशी नरेश चेतसिंह पर अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे सख्ती के विरुद्ध प्रतिरोध प्रदर्शित किया और तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को स्त्री वेश में छिप कर भागने को बाध्य कर दिया था। यह देश में पहला सशस्त्र प्रतिरोध था। इस अवसर पर चेतसिंह दुर्ग मे १५ अगस्त १९८१ को एक इतिहास दिवस का आयोजन किया गया जिससे काशीनरेश डा० विभूति नारायण सिंह मुख्य अतिथि, प्रोफेसर लल्लन जी गोपाल अध्यक्ष एवं श्री मोरोपन्त पिंगले मुख्यवक्ता थे। इस अवसर पर हजारों लोगों ने सोत्साह भाग लिया। इस बीच डा० देवी प्रसाद सिंह पूर्वी उत्तरप्रदेश में समिति का संयोजन कर रहे थे और उनके प्रयास से २४-२५ अप्रैल १९८२ को गोरखपुर में कार्यकर्ताओं का सम्मेलन एवं संगोष्ठी हुई। इसमें गोरखपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० हरिशंकर श्रीवास्तव अध्यक्ष, एवं, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक मुख्यवक्ता थे। प्रोफेसर पाठक ने इतिहास के दर्शन विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए। इस अवसर पर श्री रामसिंह ठाकुर ने भी इतिहास संकलन की योजना पर प्रकाश डाला। संगोष्ठी में पांच शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये जो बाद में प्रकाशित किये गये। इसी सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि अगला सम्मेलन एवं इतिहास दिवस साकेत में किया जाय।

साकेत महाविद्यालय के तत्वावधान में तीसरा सम्मेलन ३-४ अगस्त १९८२ को फैजाबाद में किया गया। इस सम्मेलन की कार्यवाही तथा इसमें पढ़े गये शोध-पत्रों का संकलन इस 'स्मारिका' में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश इस स्मारिका के प्रकाशन में विविध प्रकार से सहयोग देने वालों के प्रति अभारी है। अनेक दान दाताओं, जिनके नाम आगे के पृष्ठों पर प्रकाशित हैं, तथा विज्ञापन दाताओं ने 'स्मारिका' प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता दी है। हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं।

आशा है प्रबुद्ध पाठक वर्ग इस प्रयास का स्वागत करेगा तथा अधिक से अधिक लोग इस इतिहास संकलन के प्रयास में हमसे जुड़ेगे और हमारे कार्यक्रमों में जिनका प्रकाशन आगे के पृष्ठों पर किया गया है, सक्रिय सहयोग करेंगे।

विषय सूची

शोध निबन्ध

इतिहास बदलना है
वि० श्री० वाकणकर 1

इतिहास : एक नवीन दृष्टिकोण
विजय कुमार पाण्डेय ६

हिन्दु शब्द की प्राचीनता
श्याम सुन्दर मिश्र ९

भारतीय कालगणना
दामोदर झा १२

हिन्दू कालगणना पद्धति : भागवत महापुराण द्वारा प्रक्षिप्त प्रकाश
तहसीलदार सिंह १८

उत्तर-प्रदेश के ऐतिहासिक स्रोत
ठाकुर प्रसाद वर्मा २२

Aśoka and Buddha Image
के० चौधरी ३१

क्षत्रिय एवं क्षत्रीकरण की प्रक्रिया
देवीप्रसाद सिंह ३५

गोरखपुर जनपद का ऐतिहासिक सर्वेक्षण
कुँवर बहादुर कौशिक ४२

१८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में हमीरपुर जनपद का योगदान
गुलाब सिंह परिहार ४८

कोशल की ऐतिहासिक परम्परा
विशुद्धानन्द पाठक ५१

अयोध्या और पुरातात्विक उत्खनन
ईश्वर शरण विश्वकर्मा ५८

Ayodhyā Coins : A Study
ओ० पी० सिंह ६२
संस्कृत वाङ्गमय में अयोध्या
जनार्दन उपाध्याय ७२
बुद्ध कालीन कोसल की राजनैतिक स्थिति
प्रभा त्रिपाठी ७६
बौद्ध संघ और कोशल
सीताराम दुबे ८०
शुंगों का मूल-स्थान
वेदप्रकाश मिश्र ८६
इतिहास के आइने में फैजाबाद का उपेक्षित विड़हर क्षेत्र
राम ऋषि त्रिपाठी ९०
बहराइच में विदेशी आक्रमणकारी का सर्वनाश
विनोद कुमार मिश्र ९३
फैजाबाद के किसानों द्वारा ब्रिटिश सरकार को चुनौती
वीर सिंह ९८
महीयसी-कैकेयी का राष्ट्रीय चारित्र्य एवं औदात्य
अनन्त रघुनाथ सहस्रबुद्धे 'अरस' १०२
आचार्य गिरिवर के कुछ शोध ग्रंथ १०६

कार्यवाही

संयोजक का प्रतिवेदन १०९
Welcome Address १११
मा० मोरोपन्त पिंगले का उद्बोधन ११३
डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर का उद्बोधन ११८
इतिहास दिवस एवं संगोष्ठी, फैजाबाद में भाग लेने वालों की सूची १२६
संकल्पित कार्य १२९

गोरखपुर कार्यकर्त्ता सम्मेलन

२४-२५ अप्रैल १९८२

इतिहास संकलन कर्त्ता सम्मेलन
भारतीय इतिहास संकलन समिति
पूर्वी उत्तर प्रदेश, गोरखपुर

मंच पर बायें से दायें : प्रो० विश्वम्भरशरण पाठक, प्रो० हरिशंकर श्रीवास्तव, श्री रामसिंह ठाकुर

फैजाबाद सम्मेलन

३-४ अगस्त १९८२

भारतीय इतिहास संकलन समिति
पूर्वी उत्तर प्रदेश
इतिहास दिवस
महाविद्यालय

मंच पर बायें से दायें : डॉ० देवीप्रसाद सिंह प्रो० आर० के० श्रीवास्तव, प्रो० वि० श्री० वाकणकर, प्रो० ए० पी० मेहरोत्रा, श्री मोरोपन्त पिंगले, डॉ० बी० पी० सिंह ।

शोध निबंध

इतिहास बदलना है

वि० श्री० वाकणकर*

आज हम यहाँ भारतीय इतिहास के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोंण से चर्चा करने हेतु एकत्र हैं। हिन्दुस्तान की एक ऐतिहासिक परम्परा है जो अतीत में प्रारम्भ हुई और संघर्षों के बीच निरन्तर जीवित है। इस इतिहास परम्परा की घोर उपेक्षा और तथ्यों की तोड़-मरोड़ ने इस देश के प्रति जितना अन्याय किया उतना शायद ही किसी देश के साथ हुआ होगा। यदि पराये ही यह करते तो समझ में आ सकता था पर जब अपने ही लोग इस कार्य में लगे हों तब उनके प्रति आक्रोश व्यक्त करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। इतना ही नहीं निर्भयता पूर्वक ऐतिहासिक सत्यों की प्रतिष्ठापना करना यह आज के इतिहास और पुराविदों का कर्तव्य हो जाता है।

इतिहास की जिन विसंगतियों को हमारे गले उतारने का प्रयत्न चल रहा है, उनका स्पष्ट चित्र अपने सामने होना चाहिए।

भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी विसंगति आर्य अनार्य समस्या है। यूरोपीय मानसिकता में यह समस्या जन्मी। इसका जन्म रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दन में दिनांक ९ अप्रैल, १८६६ ई० में हुआ। उस दिन सभा के अध्यक्ष थे राइट आनरेबल विस्काउन्ट स्ट्रांगफोल्ड। मि० थामस ने 'आक्सस प्रान्त के आरियाना से आर्य आये' यह मत चर्चा के लिए रखा। वहीं से वे हिन्दुकुश तथा पंजाब में उतरे तथा उन्होंने वहाँ सरस्वती के किनारे बाह्मण प्रदत्त ग्राम्य वेद गीतों को रचा। यह आगमन १५०० ई० पू० के पहले नहीं हो सकता यह प्रविचारित धारणा एफ० मैक्समूलर ने प्रतिपादित किया। अधिकतर पाश्चात्यों ने इसे ब्रह्मवाक्य माना; यद्यपि मैक्समूलर की धारणा का विरोध एच० एच० विलसन, डब्ल्यू० डी० व्हिटनी आदि ने किया था।

दूसरा ऐतिहासिक भ्रम ई० स० १७०० के आस-पास बार्थलोम्यू झीमेलबर्ग ने यह उत्पन्न किया कि उत्तर और दक्षिण के लोग दो भिन्न मानव जाति समूहों के हैं। इसे डा० काल्डवेल ने १८२४ में तथा फादर बेलची ने १८१९ में द्रविड़ भाषा को भिन्न समूह का सिद्ध करके प्रस्तुत किया; तथा विष वल्लरी को बढ़ाया रेव्हरण्ड जी० व्ही० पोप, ह्यूजेन हुल्श, ज्यूलेस बाल्की तथा फादर हेनरी हेरास ने। एडवर्ड थामस ने, जो इस तथाकथित आर्य-द्रविड़ मान्यता के पोषक थे, प्रतिपादित किया कि ब्राह्मी मूलतः द्रविड़ों ने खोजी थी जो कि सारे देश में छाये थे और आर्यों ने उसको ग्रहण किया।

इस 'आर्य' मान्यता का इतना गहरा असर हुआ कि हमारे वैदिक पण्डित भी इससे अभिभूत हो गये और महर्षि दयानन्द के आर्य धर्म प्रवर्तन का अतिरेक इतना हो गया कि 'हम हिन्दू नहीं आर्य हैं' यह धारणा सर्वत्र सम्मान पाने लगी थी।

इस मान्यता का परिणाम फिर ऐतिहासिक तथ्यों के तोड़-मरोड़ में हुआ। अब, जब कि सिंधु सभ्यता की खोज हो गयी है और चूंकि वह २००० ई० पू० के पहले की है, अतः ई० पू० १५०० के आस-पास आये आर्यों का उससे सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए उसे द्रविड़ सभ्यता होना चाहिये। द्रविड़ सभ्यता, इसको आर्यों ने ही नष्ट किया है यह भी धारणा खड़ी की गई। इसका उद्घोष मार्टिमर व्हीलर, स्टूअर्ट पिगट, लिओनार्ड ऊली ने इतनी जोर से किया कि उनकी शिष्य परम्परा, जो भारतीय पुरातत्व अन्वेषण पर छाई रही, इसका विरोध नहीं कर सकी। स्वयं व्हीलर और पिगट वेद विद्या से अनभिज्ञ थे। पर वे ही हड़प्पीय नगरों को शंबरों के नगर बताते रहे तथा पुरंदर इन्द्र को उनका विनाशकर्त्ता। वास्तव में शंबर तो पर्वत वासी थे। ''यः शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तम्'' यह ऋग्वेद वाक्य मैंने व्हीलर को १९५७ में जब बताया तब वे प्रत्युत्तर न दे सके।

हड़प्पा को वैदिक काल में हरयूपिया या व्ययावती कहते थे। यहाँ का राजा था कवि चायमान। जब यह वरशिक्ष, द्रह्यु, यदु आदि राजाओं के आक्रमण न सह सका

---

* भारतीय कलाभवन, माधव नगर, उज्जैन।

तब हरयूपिया का राज्य उसके भाई अभ्यवर्तिन चायमान ने सम्भाला तथा अपनी मदद के लिये सुदास पैजवन को, जो पांचाल देश का राजा था, बुलाया। यह युद्ध आर्य अनार्य युद्ध नहीं था अपितु वैदिक धर्म के मानने वाले राजाओं के दो समूहों के मध्य था। एक ओर थे, अज, शिग्रंयु, यक्षु, कवण, श्रुत, वृद्ध, अनु, द्रह्यू, आसंग-प्लायोगी, याद्व, पशु, तिरिंदर, वत्स, काण्व, वार्हस्पत्य और भरद्वाज। दूसरो ओर थे, अभ्यवर्तिन चायमान, तृप्सु, और दास पैजवन।

जिस हड़प्पा नगरी के राजा वैदिक धर्म के उपासक हों उस सभ्यता को अवैदिक कहकर इन पर अनार्यत्व थोपा गया। ये सब ऐतिहासिक तथ्य आज से बीस वर्ष पूर्व ही धाराशायी हो गये थे, पर धन्य है भारतीय शिक्षाविदों की, कि आज भी ये तथ्य शालेय पुस्तकों में स्थान नहीं पा सके।

एक और जबरदस्त ऐतिहासिक विसंगति की ओर भी हमें लक्ष्य करना होगा। जब मोहनजोदड़ो-हड़प्पा में लिखित मुद्राएँ मिली तो पुनश्च एक नया शिगूफा छोड़ा गया कि आर्यों को लेखन विद्या ज्ञात नहीं थी। वेद ग्रन्थ गेय हैं अतः उन्हें कंठस्थ करना संभव है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण जैसा विशाल गद्य ग्रंथ आज तक सुरक्षित आया इसी का अर्थ है वह बिना लेखन के हो नहीं सकता था। जिन्होंने भी परम्परागत पद्धति के ऋग्वेद पढ़ा है वे जानते हैं कि वह बिना पोथी के हो ही नहीं सकता। वैसे लेखन के उल्लेख भी वैदिक साहित्य में कम नहीं हैं।

इन्द्र के लिए ऋचा को 'अतक्षण' करने का उल्लेख है (ऋ० १, ६२, १३,)। अथर्ववेद में 'लिख' शब्द आता है **'अजैबा त्वा संलिखितं अजैमुत संरुधाम'**। **ऋगवेद** में **'अष्ट-कर्ण्यं गौ'** का उल्लेख स्पष्ट है। **'सहस्त्र में ददवो अष्ट कर्ण्यं'** (ऋ० १०, ६२, -७)। लेखन के लिए सीसे की लेखनी लेना चाहिए यह स्पष्ट किया है कि (सीसा हरिणा) **यजुर्वेद** में 'ज्या लिखित' कह कर तीन रेखाओं के अंकन का संकेत हैं। वाचक ददर्श-वायम् अपश्यत् (१०, ७, ४)। जुआरी के संख्या वाचक चिह्न (ऋ० १, ४१-६) कहते हैं। **शथपथ ब्राह्मण** (१२-३-२-१) में वैदिक मंत्राक्षरों की संख्या का उल्लेख है। यह अक्षर-गणना बिना लेखन के हो ही नहीं सकती। **छांदोग्य** में स्वरों के लेखनार्थ रंगों का प्रयोग बताया गया है। (२-१०, १-१३, २-२२)। आर्यों को लेखन कला का ज्ञान नहीं था यह विधान इन पाश्चात्य विद्वानों के अज्ञान को ही प्रकट करती है। डेव्हिड डिरिन्जर ने "अल्फाबेट' नामक ग्रंथ में कहा है—"The extensive Vaidic literature gives no indications whatsoever of existence of writing." इसी विधान को मैक्समूलर और विंटरनिट्झ ने भी दोहराया था। यह अज्ञान तो उन्हें था ही पर हमारे वैदिक पण्डितों ने भी इन बातों का घोर विरोध नहीं किया, इसका दुःख है।

जाति व्यवस्था का उल्लेख करते समय भी परम्परा का अज्ञान आज तक यथावत् चलता आया है। हमें बताया गया कि ब्रात्य संघ अनार्यों का था। यह मागधी संघ यज्ञ संस्था में विश्वास नहीं रखता था अतः अनार्य था, यह मानना भी भयंकर भूल होगी। वास्तव में मुनि, वैखानस, यती ये वैदिक यज्ञ परम्परा के विरोधक थे किन्तु तत्कालीन समाज के सम्मान्य अंग थे। मुनि इन्द्र के मित्र थे (ऋ० ८-१७-१०) वे रूद्र के साथ सोमपान करते थे। (ऋ० १०-१३६-७) यती इन्द्र स्तुति करते थे। (ऋ० ८-६-१८)। श्रमण तथा श्रमणकों का प्रथम उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद् में आता है। शुक, ऋषभ एवम् दुर्वासा ऋषि विवस्त्रावस्था में ही घूमते थे (महा०, वन० २६०-११)। वैदिक काल में नग्नता अमान्य नहीं थी। रूद्र और अरिति महानग्न तथा महानग्नी थी। रूद्र उर्ध्वरेतस थे।

इतिहास की यह भी विसंगति है कि शिव को अनार्य देवता बताया गया। वास्तव में रूद्र और शिव के सभी नाम यजुर्वेद में समाविष्ट हैं। रुद्र नीलग्रीव हैं, विलोहित हैं, शितिकण्ठ हैं, गिरित्र हैं, वह शंकर हैं, विरुपाक्ष हैं, महादेव हैं।

ॐ नमस्ते अस्तु भगवान विश्वेश्वराय महादेवाय, त्रयम्बकाय, त्रिपुरांतकाय त्रिकालाग्नि कालाय कालाग्नि रुद्राय नीलकण्ठाय मृत्युंजयाय सर्वेश्वराय सदाशिवाय श्रीमन्महादेवाय नमः, तथा, नमः शङ्ग्वेच पशुपतयेच नमः उग्राय च भीमाय च नमो ग्रेवधाय च दूरेवधाय च, नमोहन्मेहनीयस च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्तराय च १६-४० ॥

नमः शम्भवायच मयो भवायच नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥१६-४१॥

इन सब आधारों के होते हुए भी हमने शिव को अवैदिक एवं अनार्य माना, यह कितनी बुद्धिदास्यता का लक्षण है।

इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण विसंगति यह भी है कि हमने पाश्चात्यों द्वारा किये गये वैदिक विधानों को अंध भक्ति से स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि **ऋग्वेद** सबसे प्राचीन उसके पश्चात् **यजुर्वेद** और **अथर्वेद** सबसे बाद का है।

यह मूलभूत धारणा ही गलत है। **अथर्वेद** का दर्शन प्रारम्भिक मानवीय जीवन दर्शन के समान जारण-तारण अभिचार कर्म पर आधारित है। अतः इसकी अनेक ऋचाएं संभवतः सर्वाति प्राचीन मानी जा सकती हैं। यज्ञ संस्था के लिए ऋक् मन्त्र रचना थी अतः यज्ञ क्रियाओं से सम्बन्धित यजुऋचाएं ऋकऋचाओं से पश्चात् की कैसे हो सकती हैं? काल निर्णय की आज की मान्यताओं में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और तभी वैदिकी इतिहास का चित्र स्पष्ट होगा।

प्राक् हड़प्पीय सभ्यताओं का वास्तव में प्रारम्भिक वेद काल से सम्बन्ध है। इसके पूर्व का **मेसोलिथिक** या **मध्याश्मीय काल अथर्व व ऋक्** प्रारंभ से सम्बन्धित होगा। वैदिक काल की कतिपय मान्यताओं का दर्शन हमें भारतीय शैल चित्रों में होता है। प्रारम्भिक विष्णु व अन्य देवता-अवतार यथा-मत्स्य, कूर्म, वराह, वृषभ, महिष आदि के देवत्व आरोपित पशुचित्र मध्याश्मीय काल से सम्बन्धित हैं। अतः इन वैदिक मान्यताओं का जन्म इसी भूमि में छः से पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व हो गया था।

मानव जीवन के क्रमिक विकास के बारे में भी हमारे मन में विभ्रम है। **पुराणों** में इस सम्बन्ध में जो स्पष्ट चित्र है, वह महत्त्व का है।

'कृषिनैव न वाणिज्यं न गोरक्षा प्रवर्तत'।

तत्कालीन समाज को न कृषि का ज्ञान था, न वाणिज्य का न ही उनमें पशु पालन ही होता था। वे नदियों के किनारे रहते थे। **'निवासन चक्रिरे पूर्वेद्री नदी तीरेषु वेतटा'**। उनका आहार फल-फूल एवम् मधु था।

'तस्यं आहार संजाता फलं पुष्पं तथा मधु'।

उन दिनों न तो कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड लेने वाला, न देने वाला था। परस्पर सहयोग से धर्माचरण कर सब रहते थे।

नैव राज्यं न राजासीत न दण्डी न च दाण्डिकाः
धर्मेणैव प्रजा सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

इतना शास्त्रशुद्ध विचार पुराण रचनाकारों ने किया था तथा सृष्टि उत्पत्ति से मानव विकास तक का वैज्ञानिक विवेचन वे कर चुके थे।

अभी पुराविदों में हमारी मान्य परम्परा पर आघात करने की मानो स्पर्धा प्रारम्भ हो गयी है। डा० साँकलिया लंका को भारत में लाने के पीछे पड़े हैं तो डा० सरकार व बी० बी० लाल रामायण महाभारत के पीछे हाथ धोकर लगे हैं। उन्हें अयोध्या में अधिक प्राचीन अवशेष नहीं मिला अतः रामायण को परवर्ती काल में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं तो सरकार महाभारत को रामायण से पूर्व रखना चाहते हैं। ये विज्ञलोग किसकी प्रेरणा से यह संस्कृति विकृतिकरण का खेल खेल रहे हैं, यह गहराई से देखना होगा।

हम लोगों को पुरातत्वीय उत्खननों के आधार पर यह प्रमाण मिला है कि विक्रम पूर्व ११०० से १४०० वर्ष के आस-पास सम्पूर्ण भारत प्रलयंकारी बाढों की चपेट में आ गया था। मालवा की अधिकांश ताम्राश्मीय बस्तियाँ इन बाढ़ों में नष्ट हो गयीं। संभवतः निचक्षु के समय हस्तिनापुर का उल्लिखित विनाश इसी समय का होगा। प्राचीन बस्तियाँ यदि समूल नष्ट हो गयी हो या आधी भी नष्ट हो गयी हो तो फिर इन प्राचीन स्थानों का पता कैसे लगेगा?

हर वस्तु का आविष्कार भारत के बाहर हुआ है, यह धारणा भी अब बदलने की आवश्यकता है। चावल की खेती का प्रमाण अब प्रतापगढ़ (उ० प्र०) में मिला है जो विश्व का सबसे प्राचीन प्रमाण है। ये चावल, जो प्रयाग विश्वविद्यालय ने खोजे, ७-८ हजार वर्ष पुराने हैं। हमें भी जयपुर (म० प्र०) के निकट कार्बनाइज्ड चावल मिले हैं।

ताम्र व कांस्य का आविष्कार भी भारत में ही हुआ यह अब खेतरी ताम्र खदानों के आस-पास किये गये सर्वेक्षण से ज्ञात हो गया है। दंगवाड़ा में ३८०० वर्ष पूर्व के कुल्हाड़ियों के साँचे मिले हैं। दायमाबाद का हाथी, गेण्डा, बैल व रथ ताम्राश्मीय कांस्योद्योग का ज्वलंत उदाहरण है।

यह विवेचना तो वैदिक युग की है, इसे हम निम्न कोष्टकों के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

कोष्टक क्र० १

२१०० से १८०० वर्तमान पूर्व	शुंग सातवाहन—विक्रम कृत काल
२४०० से २१०० व० पू०	मौर्यकाल
३००० से २४०० व० पू०	प्रद्योत काल
३५०० से ३००० व० पू०	आवंति काल
३८०० से ३५०० व० पू०	मालवा में उत्तर हैहय या वितिहोत्र काल
४००० से ३८०० व० पू०	मालवा में भार्गव काल
४५०० से ४००० व० पू०	मालवा हैहय काल
४५०० से ३७०० व० पू०	हड़प्पीय उत्तर वैदिक काल
६००० से ४५०० व० पू०	प्राक् हड़प्पीय–आद्य वैदिक काल

कोष्टक क्र० २

३००० से २५०० व० पू०	आद्यैतिहासिक काल नंदी तक
४००० से ३००० व० पू०	दाशराज्ञ युद्ध व महाभारत युद्ध काल
६००० से ४००० व० पू०	वैदिक काल,वैदिक साहित्य रचना काल
१५००० मे ६००० व० पू०	पुराकाल, वैदिक रचना के पूर्व का।

उपरोक्त कोष्टक अभी परिपक्व नहीं है उनको परिपक्वता की पुष्टि हड़प्पीय लिपि वाचन के पश्चात् ही हो सकती है।

जब आद्यैतिहास का विचार करते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि पर्शुदेशवासियों ने चण्ड प्रद्योत के समय उत्तर भारत पर आक्रमण किया था। पर मत्स्य देश नरेश उदयन के हाथों उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा। ऐसे ही सिकन्दर को भी पोरस से हार खानी पड़ी, यह निर्विवाद है। क्योंकि सिकन्दर सिंधु नदी के सहारे बावेल (बैबीलोनिया) भागने के बजाये राजस्थान या मालवा-सौराष्ट्र मार्ग से भी जा सकता था।

इतिहास की विकृति का दूसरा दौर इस देश पर मुस्लिम आक्रमणों के समय के इतिहास से सम्बद्ध है। महमूद गजनी सौराष्ट्र जीत कर जब वापस आ रहा था तभी उनकी सेनाओं पर धाराधिपति भोज ने आक्रमण किया। उनके सम्बन्ध में शिलालेखीय प्रमाण हैं। उदयपुर प्रशस्ति (विदिशा, म० प्र०) में स्पष्ट उल्लेख है। **'यः क्रोधातर वारिणैव सहसा म्लैच्छाधिपं दुर्धरम् ॥'**

भोज रचित कोदण्ड काव्य में निम्नोल्लेख महत्वपूर्ण है।'

'तई रखि आ तुरक्का धरणी अंजवणे सुमत्ते'

वैसे ही उदयपुर द्वितीय प्रशस्ति का उल्लेख भी देखना होगा।

चेदिश्वरेन्द्र रथ तोग्गलभीम मुख्यान्
कर्नाट लाटपति गुर्जर राट् तुरुष्कान् ॥

उज्जयिनी का भग्न दान लेख भी इस विजय की ओर संकेत करता है।

'.............भोजदेव कुशली..............
तुरुष्क विजय पर्वणी स्ना (त्वा) ....
भवानिपति महा..........................
वाताभ्र..................................

स्वर्गीय हरिराम चन्द्र दिवेकर जी ने भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रमाण दिया है।

Since then I have been in search of **Darila Bhāshya.** Though unsuccessful in its quest my attempt became fruitful about **Keshava Paddhati**....As noted before **Darila** is quoted by Keshava who is contemporary with king Bhoja of Malwa for whom he practiced some **Abhichārakarma** in order to help the king to kill his adversary—a Turushka i. e. Turk by name Mahamuda.

'तबसे मैं दारिल भाष्य की खोज में था, उसकी खोज में यद्यपि असफल रहा पर केशव पद्धति के बारे में सफल हो गया........जैसा कि पहले कहा है दारिल का उल्लेख केशव ने किया है। केशव मालवा के राजाभोज का समकालीन था तथा उसके लिए (भोज के लिये) उसके शत्रु अर्थात् महमूद नामक एक तुरुष्क के पराजय के लिये अभिचार कर्म किया था।'

इस प्रकार अपने ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर भी अपना इतिहास देखना होगा। केवल मुसलमानी तवारिख़ों के भरोसे राजपूत काल का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। हर नगर में सती के स्तंभ विद्यमान हैं। वे बंगाल में

भी हैं जहाँ यह किंवदन्ती प्रचलित कर दी गई है कि कतिपय सैनिक लेकर बख्तियार ने बंगाल जीता। वहाँ के ताम्र पत्र, दानपत्र, सती स्तंभ मुस्लिम सत्ता से लम्बे संघर्ष की कहानी कहते हैं।

यही हाल अंग्रेजी शासन काल का है। मराठों की खबरें, भाटों के दफ्तर तथा राज-कवियों के काव्य कुछ अलग चित्र प्रस्तुत करते हैं। १८५७ की क्रान्ति का समग्र इतिहास अभी भी स्पष्ट नहीं है।

अत: इस राष्ट्र की अस्मिता जगाने वाले अज्ञात इतिहास को उजागर करने की जिम्मेदारी हमारी है।

हमारी जागतिक सांस्कृतिक विजय का इतिहास भी अभी लोक परिचित नहीं हैं। जावा, सुमात्रा, बाली, कंबुज, चम्पा (विएतनाम), मलाया के सहस्त्रों मन्दिरों में संस्कृत ग्रंथ, शिलालेखादि साहित्य का अभ्यास करने हमारे अध्ययन दल कब पहुँचेंगे ? कौन आस्ट्रेलिया के उत्तरी तट पर हिन्दू अवशेषों की खोज करेगा ? कौन इजिप्त व मध्य पूर्व के भारतीय सम्बन्ध दर्शाने वाले प्रमाणों को खोजेगा ?

एक नहीं अनेक प्रश्न मुँह बाये खड़े हैं। कमी है सत्येतिहास की खोज की ओर प्रवृत होने वाले विद्वानों की; और आशा है हम इस दिशा में सफल होंगे ही और उन सारे दुष्प्रयत्नों को समाप्त करेंगे जो हमारे विजिगीषु प्रमाण धूमिल करने तथा इस देश के इतिहास को तोड़-मरोड़ कर अस्मिता पर आघात करने को उद्यत हैं।

इतिहास : एक नवीन दृष्टिकोण

विजय कुमार पाण्डेय*

भारत का इतिहास दीर्घ तथा घटना प्रधान रहा है। हमारे इतिहास में विविध स्रोतों से पोषक तत्व और शक्ति ग्रहण का गुण विद्यमान है जबकि उसी समय जन्मी मिस्र, मेसोपोटामिया एवं यूनान की सभ्यताओं में ऐसी शक्ति का अभाव है। सृष्टि सृजन के साथ भारतीय इतिहास का प्रारम्भ होता है। हमारा भारतीय इतिहास प्रारम्भिक काल से अविच्छिन्न, सांस्कृतिक मूल्यों से युक्त, नैतिक धाराओं से ओत-प्रोत एवं आध्यात्मिक भावों को अपने में समाविष्ट किये हुए हैं। अभी तक भारत का इतिहास प्रायः अभारतीय दृष्टि से लिखा गया है और इसी कारण हमें यथार्थ ज्ञान का बोध नहीं होता प्रत्युत् संदेह, अपूर्णता, अज्ञानता एवं मिथ्या भ्रान्तियाँ इसमें अधिक परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर भारत का इतिहास ऋग्वैदिक काल से प्रतीत होना चाहिए था किन्तु यथार्थतः छठी शती ई० पू० से इस इतिहास को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। यही नहीं इसके बाद के कालों में इसे अधिक मुखरित किया गया। मेरी दृष्टि से जिन-जिन युगों में भारत पर विदेशी आक्रमण हुए उन-उन कालों का इतिहास अधिक प्रकाशित एवं स्पष्ट लिखा गया है क्योंकि उनमें अभारतीय इतिहासकारों को अपने आक्रमण का वर्णन करना था। सर्वेक्षण के तौर पर ईरानियों, सिकन्दर का आक्रमण, वैक्ट्रो-यूनानी आक्रमण, शक, पह्लव, कुषाण, हूण, तुर्क, गुलाम, मुगल एवं ब्रिटिश आक्रमणों को देखकर हम अपने मस्तिष्क में एक धारणा बना सकते हैं और कह सकते हैं कि हमारे इतिहास पर भारतीय दृष्टि से चिन्तन एवं विचारों का अभाव है। ऐसी स्थिति में कोई निष्पक्ष इतिहासविद् यह कैसे मान सकता है कि इन पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारत का यथार्थ इतिहास लिखा है। यदि स्वतंत्र विधि से भारत के धरातल पर जन्म लेने वाले इतिहास के बुद्धिजीवी यहाँ के भौगोलिक पर्यावरण को समझते हुए, यहाँ के साक्ष्यों का निर्बाध उपयोग किये होते तो निश्चित ही हम अपने ऋषियों की वाणी, राजवंशों के शासनकाल एवं यथार्थ ऐतिहासिक मूल्यों को समझने में सक्षम होते। ऐसी स्थिति में हमें इतिहास पर नवीन दृष्टि से सोचने एवं विचारने की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम 'इतिहास' शब्द पर विचार करने की आवश्यकता है।

इतिहास व्यापक होता है। **अथर्वेद**[1] में इतिहास का सर्वप्रथम पुराण के साथ उल्लेख है। इसका कारण यह है कि उस काल में इतिहास एवं पुराण का घनिष्ठतम सम्बन्ध था। **शतपथ ब्राह्मण**[2] में लिखा है—"इतिहास वेद है वह यह है, कुछ इतिहास सुनाना है", **सावित्री-इष्ट प्रकरण** में इतिहास का यह वर्णन उसकी व्यापकता को प्रतिबिम्बित करता है। वेद किसी एक विषय का वर्णन न कर प्रत्युत धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक आदि अनेक विषयों का वर्णन प्रस्तुत करता है। इस **युग** में इतिहास का दृष्टिकोण निश्चिय ही आज से भिन्न था जिसका कारण तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की वर्तमान काल से भिन्नता है।

पंचमहायज्ञ वर्णनकरने की प्रक्रिया में **शथपथ ब्राह्मण**[3] में इतिहास का उल्लेख अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, पुराण, गाथा एवं नाराशंसी के साथ होता है। वस्तुतः इस

---

* प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद।

[1] अथर्ववेद १५/६/४ एव आगे।

[2] श० ब्रा० १३/४/३/१२ इतिहासोवेदः सोऽयमिति कंचिदितिहासकाचक्षोते। द्रष्टव्य गो० ब्रा०।

[3] श० ब्रा० ११/५/६/८ अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या। वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नारांशसरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव''''॥

समय इतिहास में राजवंशों का ही वर्णन नहीं था अपितु सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मिश्रित रूप भी था। देव प्रधान युग होने के कारण देवों के साथ इतिहास का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। **शतपथ ब्राह्मण**[1] के एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि जो यह समझकर वाकोवाक्य इतिहास, पुराण का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है वह देवों को क्षीरौदन एवं मासौदन से तृप्त करता है। वास्तव में इस द्यौ और पृथ्वी के बीच में जो कुछ श्रम है स्वाध्याय ही उनका अन्त है। यही वह कारण है जिसके नाते इतिहास के स्वाध्याय की प्रशंसा की गयी है। इससे दो तथ्य प्रकट होते हैं। प्रथम तो यह कि अपना इतिहास बारम्बार चिन्तन करने से ही स्पष्ट होता है। और द्वितीय यह कि इतिहास के अन्तर्गत इस समय की धार्मिक धाराओं की प्रवहमयता सम्मिलित थी।

इतिहास शब्द का प्रयोग **बृहदारण्यक उपनिषद** एवं **छान्दोग्य उपनिषद** में बहुलतम है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद[2] के सन्दर्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, मन्त्र विवरण और अर्थवाद का उल्लेख आता है। ये महदभूत के निःश्वास हैं। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि शंकराचार्य[3] ने उर्वशी एवं पुरुरवा के संवाद को इतिहास नाम प्रदान किया है। इतिहास की घटनाओं का आकलन करने के लिए इस स्थल की महत्ता इस कारण बढ़ जाती है क्योंकि इससे इतिहास का नवीनतम् दृष्टिकोण प्रतिस्थापित होता है। वस्तुतः इतिहास अतीत एवं वर्तमान का अनवरत संवाद है। इतिहास का लक्ष्य आत्मबोध कराना होता है जो इसमें प्रदर्शित हुआ है। मेरी धारणा है कि इस समय इतिहास ब्रह्म के निकटस्थ है। तदनन्तर याज्ञवल्क्य एवं जनक संवाद के अन्तर्गत इतिहास आता है। इसमें पूर्व उद्धरण की काफी पुनरुक्ति परिलक्षित होती है[4]। यथा—**ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस,** इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक का उल्लेख हुआ है। संभवतः इतिहास और पुराण का बारम्बार एक साथ उल्लेख होने के कारण गेल्डनर ने यह व्यक्त किया है कि इतिहास और पुराण एक ही कृति के दो नाम हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि प्रथम तो बारम्बार इतिहास एवं पुराण का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है। द्वितोयतः पुराण के पहले भी इतिहास का स्वतन्त्र विषय के रूप में अस्तित्व दिखायी पड़ता है। यह अवश्य सत्य है कि इतिहास और पुराण एक दूसरे से पूरक हैं। इस युग तक इतिहास से समाज की एकरूपता स्थापित हो चुकी थी। एक स्थल पर[5] आत्मा की व्यापकता का वर्णन करते समय याज्ञवल्क्य मैत्रेयि से कहते हैं—'हे मैत्रेयि ! ये जो ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद श्लोक, सूत्र, सूत्रों की व्याख्या, इष्ट, हुत, आशित, पायित, इहलोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत हैं, सब इसी के निःश्वास हैं'। इस प्रसंग का अनुशीलन करने से हम यह कह सकते हैं कि इतिहास आत्मबोध है।

इतिहास पुराण पुष्प है[6]। इसी क्रम में पुनः मिलता है कि अथर्वांगिरस श्रुतियों ने ही इतिहास पुराण को अभितप्त किया। इतिहास और पुराण मन की उन्दिग्नता को रोकता है इसलिए इसके अध्ययन की अनिवार्यता थी। इससे यह प्रतिपादित होता है कि हमारा इतिहास नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों से भी युक्त था जिसको अत्यावश्यकता आज के इतिहास संरचना में भी है।

---

[1] श० ब्रा० ११/५|७९ य एवं विद्वान्वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते..................॥

[2] बृ० उ० २|४|१० भूतस्य निश्वसितमेतदऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्यख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥

[3] शंकराचार्य भा० पृष्ठ ५४७।

[4] बृ० उ० ४|१|२ ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणविद्या, उपनिषद श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानिष्ट हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि.........॥

[5] वैस्तू० १|२९०

[6] छा० उ० ३|४|१ इतिहास पुराणं पुष्पं।

यास्क ने निरुक्त में इतिहास का सात बार उल्लेख किया है। सर्वप्रथम इतिहास मन्त्र एवं गाथा के साथ आता है। तदनन्तर देवापि शन्तनु[1] के राज्याभिषेक एवं राज्यकाल के वर्णन को इतिहास कहा गया है। एक अन्य स्थल पर इतिहास शब्द आता है जिसमें विश्वामित्र[2] एवं सुदास की कथा मिलती है। इन्द्र एवं वृत्र के युद्ध का वर्णन करने के प्रसंग में यह उल्लेख मिलता है कि वृत्र के नाम की व्याख्या इतिहासकार असुर मानकर करते हैं। इससे यह प्रज्ञापित होता है कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने इतिहास का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था वह सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को स्पष्ट करता था। आज हमें इस दृष्टि से इतिहास को देखना है। मन्त्र साहित्य का इतिहास से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। मन्त्रों का अनुशीलन, चिन्तन एवं मनन कर हम अपने इतिहास से परिचित हो सकते हैं। निरुक्त[3] में एक स्थान पर आता है कि "एक इतिहास कहा जाता है"। इसके अन्तर्गत याज्ञिक प्रक्रियाओं को इतिहास नाम प्रदान किया गया है। ऐतिहासिक एवं इतिहास शब्द का एक स्थान पर निरुक्ति में उल्लेख मिलना महत्वपूर्ण है।[4] यम एवं यमी के संवाद को इतिहास नाम प्रदान किया गया है। इसके अनन्तर सरण्यू विवस्वत आदित्य यम एवं यमी को इतिहास के अन्तर्गत समाहित किया गया है। इस वर्णन में विश्वे देवों के उद्भव की कथा है। इस प्रकार इतिहास देश, काल, स्थिति, सृष्टि एवं वीरता मूलक पुरा कथाओं का नाम है।

इतिहास का प्रणयन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होना चाहिए। इतिहास में उपलब्ध सामग्रियों का नीर-क्षीर विवेचन करने से यर्थाथ की उपलब्धि होती है। **वाचस्पत्यम** में इतिहास की व्याख्या मिलती है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्तंकथायुक्तमितिहास प्रचक्षते।।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं उपदेश से समन्वित पूर्ववृत्त एवं कथाओं को इतिहास नाम प्रदान किया है। वर्तमान २०वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हमें ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों पर अभारतीय एवं भारतीय साक्ष्यों का भारतीय परिवेश में नीर-क्षीर बिवेचन कर एक नवीन दृष्टि उपस्थित करना है।

इतिहास लेखन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होना चाहिए। इतिहास संकलन के कार्य में सतर्कता एवं सावधानी की आवश्यकता हैं। संकलित विषय वस्तुओं को पूर्ण रूप प्रदान करते समय आध्यात्मिक एवं चारित्रिक मूल्यों को महत्ता प्रदान करना चाहिए। पूज्य गुरु प्रो० वी० यस० पाठक द्वारा व्यक्त किया गया—"इतिहासबोध वर्तमान में अतीत बोध है तथा इतिहास का प्रयोजन है आत्म बोध" सिद्धान्त इतिहास संरचना का आधार होना चाहिए। इससे इतिहास को नवीन दिशा प्राप्त होगी।

●

---

[1] निरुक्त २|१०
[2] निरुक्त २|२४
[3] निरुक्त ४|६
[4] निरुक्त १०|२६, १२|१०

हिन्दु शब्द की प्राचीनता

श्यामसुन्दर मिश्र*

भारतीयों को प्राचीनकाल से ही हिन्दू नाम से जाना जाता रहा है और आज भी प्राचीन भारतीयों को सम्पूर्ण विश्व हिन्दू नाम से ही जानता है । तथापि हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति पर अनेक मत-मतान्तर हैं । कुछ पंडितजन "हिनन्ति दुरितानि" से हिन्दू की व्युत्पत्ति बताने में अपना व्याकरण कौशल प्रदर्शित करते हैं, तो कुछ **कालिकापुराण** में आए हुए हिन्दू शब्द की प्राचीनता का प्रमाण बतलाते हैं । कदाचित ये दोनों तर्क इस कारण अमान्य हो जाते हैं कि न तो व्याकरण, जो कि निःसन्देह जाति नाम के बाद उत्पन्न हुई है, के आधार पर किसी जाति के नाम की व्युत्पत्ति सम्भव हो सकती है, और न अर्वाचीन **कालिकापुराण**, जिसका निर्माण काल प्रायः सत्रहवीं शताब्दी ई० माना जाता है, प्राचीनता का प्रमाण है ।

प्रायः एक सर्वमान्य मत यह है कि भाषावैज्ञानिक आधार पर पारसीक "स" अक्षर को "ह" कहते थे और इसी उच्चारणक्रम से वे सिन्धु को हिन्दू कहने लगे और इस प्रकार सिन्धु और उसके पार के वासी भी हिन्दू कहलाने लगे । यह शब्द पारसीक एवं मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ भारत आया और स्वीकार कर लिया गया । इस मत को आधार मानते हुए और अरबी-फारसी शब्द कोशों में हिन्दू के अर्थ गुलाम-चोर आदि वर्णिति होने के कारण आर्यसमाजियों ने अपने को हिन्दू न कह कर आर्य कहने का आग्रह किया । इस आग्रह के पीछे किसी "आर्य जाति" की कल्पना भी रही है जिसका प्रचार पाश्चात्यों ने सर्वाधिक किया और इस प्रकार ही आर्य शब्द सर्वमान्य हुआ है । तथापि भारतीय ग्रन्थों में आर्य शब्द जातिवाचक न होकर भाववाचक है और आदर का सूचक है ।

जाति के विचार से आर्य और द्रविड़ का विरोधाभास प्रस्तुत करने में भी पाश्चात्यों ने अपना बुद्धि कौशल प्रदर्शित किया है और इस विरोधाभास को पुष्ट करने में इतिहास व्याख्या की मार्क्स-शैली ने भी जीतोड़ प्रयत्न किया है, और इस प्रकार यह विरोधाभास भी प्रायः सर्वमान्य हो चुका है । तथापि अन्वेषणों से प्राप्त तथ्यों में स्पष्टतः आर्य और द्रविड़ जातियों का प्रमाण न मिलने से तथा ऐसी संस्कृतियों के प्रमाण भी न मिलने के कारण और इसके विपरीत भिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियों में एकरूपता मिलने के कारण, अब यह आरोपित किया जा रहा है कि उन्नत द्रविड़ संस्कृति को अर्द्धसभ्य आर्यों ने तुरन्त अपना लिया और इस प्रकार आर्यों को हर प्रकार से प्राकृत सिद्ध करने का प्रयास देश और विदेशों में चल रहा है ।

भारतीय ग्रंथों का अवलोकन करने से जलप्रलय के पूर्व भी सभ्यता के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जलप्रलय में सर्वनाश होने के बाद सृष्टि फिर से हुई । जलप्रलय का नायक तथा इस नई सृष्टि का मनु द्रविड़राज सत्यव्रत है । देखो भागवत८/२४/१३/। भागवत ९/१/२-३ में कहा गया है :-

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविड़ेश्वरः ।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ।।
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।
तत्तस्तस्य सुताश्चोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखानृपाः ।।

यही सत्यव्रत केरल की कृतमाला नदी के किनारे से जलप्रलय में नौकारूढ होकर भगवान् मत्स्यावतार की कृपा से हिमालय पर पहुँचता है और वर्तमान मन्वन्तर का मनु बनता है । जब मनु सत्यव्रत स्वयं ही द्रविड़ जाति (?) का है तो उसकी सन्तानों का आर्य जाति का होना कैसे सम्भव है ? स्पष्ट ही आर्य-द्रविड़ का विरोधाभास आधाररहित और मनगढन्त है ।

मनुस्मृति के आधार पर ब्राह्मण वंशावली इस प्रकार है :—

---

*संपादक, इण्डियन जर्नल आफ पर्सनालिटी एण्ड ह्यूमन डेवलपमेन्ट, उरई, जालौन, उ० प्र० ।

सर्वे द्विजाः कान्यकुब्जाः मागधं माथुरं विना ।
कान्यकुब्जस्य द्वौ भेदौ ततो जातौ परम्परौ ।
गौड़द्राविड़भेदाभ्यां विन्ध्यस्योत्तर याम्यतः ॥
गौड़ाश्चपंचधाख्यातः द्राविड़ाः पंचधा तथा ।
देशभागविभेदेन दशधा ब्राह्मणाः स्मृतः ॥
सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौड़ा उत्कलमैथिलाः ।
पंचगौड़ इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ॥
कर्णाटकाश्चतैलंगा महाराष्ट्राश्चद्राविड़ाः ।
गुर्जराश्चेति पंचैते द्राविड़ाः विन्ध्यदक्षिणे ॥[1]

इससे भी यह स्पष्ट हाता है कि विरोधाभास गौड़ तथा द्राविड़ का है न कि आर्य और द्रविड़ का है । यही विरोधाभास गौड़पादाचार्य और द्रविड़ाचार्य शब्दों से भी प्रतिलक्षित होता है । अस्तु ।

यह स्वीकार करते हुए कि हिन्दू शब्द विदेशी है, विदेशी भाषाओं में ही इसकी व्युत्पत्ति देखना आवश्यक हो जाता है । अरबी-फारसी भाषाओं की वर्णमाला देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन वर्णमालाओं के अन्तिम अक्षर वाव, हे, हम्ज, तथा छोटी-बड़ी ये हैं जो स्वर भी हैं और व्यंजन भो हैं । स्वर की तरह ये अक्षर क्रमशः उ, अः, अ, ह और ए की आवाजें देते हैं और व्यंजन को तरह व, हु, कठोर अ, और य की आवाजें देते हैं । लिपि साम्य की दृष्टि से वाव कुछ नागरा "उ" से मिलता-जुलता है, उ की मात्रा तो लगभग वाव जैसी हो है, हे कुछ यूनानी "अलफा" की तरह है जो नागरी "अ" का वाची है और विसर्ग होने पर अरबी लिपि में इसके ऊपर दो नुक्ते रखते हैं जो अः की मात्रा की भांति हैं । इसे गोल हे कहते हैं जो प्रायः अकारान्त और इकारान्त शब्दों में वक्फ अर्थात् विराम का वाचक होता है । हम्जः लिपि में प्लुत "अ" की भांति है, छोटी ये "इ" की भांति और बड़ी ये "य" की भांति लिखे जाते हैं । हम्जः जब स्वर की तरह प्रयुक्त होता है तब 'अलिफ" कहलाता है और इसकी लिपि में भी अन्तर आ जाता है । इसी प्रकार "हे" जब पूर्ण स्वर की तरह प्रयुक्त होता है तब उसका उच्चारण नागरी स्वर "अः" की तरह होता है किन्तु जब मात्रा रूप स्वर की तरह प्रयुक्त हाता है तब यह विसर्ग की भांति "अ" की मात्रा का अर्थ करता है । "ह" के लिए एक अन्य हे का प्रयोग किया जाता है जिसकी आकृति ब्राह्मी "ह" से कुछ मिलती-जुलती है ।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि "हे" का व्यंजन उच्चारण भी कठोर ह़ न होकर कोमल ह़ है और लपभग वहीं ध्वनि करता है जो अंग्रेजी के ऑवर : Hour ऑनर : Honour :, हिस्टारिकल : Historical : आदि शब्दों की ध्वनि में है । अंग्रेजी के हॉस्पिटल : Hospital : शब्द को तो स्पष्टतः अरबी-फारसो लिपि अर्थात् उर्दू में हस्पताल लिखा जाता है जब कि नागरी में अस्पताल ही लिखते हैं । यद्यपि भारत में "हे" के उच्चारण में अन्तर हुआ है, जैसा कि अंग्रेजी अक्षर "एच" के उच्चारण में भी हुआ है, तथापि आज भी मूल अरबी तथा ईरानी लोग इसे कोमल ही बोलते हैं और "हिन्दू" शब्द में भी "ह" कठोर न बोलकर कोमल बोलते हुए इसे लगभग "इन्दु" कहते हैं । यह उच्चारण प्राचोन योरप तथा आधुनिक योरप के उच्चारण से साम्य रखता है ।

अब योरप की भाषाओं पर थोड़ा विचार करने पर ज्ञात होता है कि "इन्दिया" : India : शब्द मूल यूनानी शब्द Indos में ia प्रत्यय लगा कर बना है । इया प्रत्यय लगने पर यूनानी संज्ञायें बहुबचन में हो जाती हैं । Indos में ओमीक्रान नागरी अक्षर "उ" तथा "व" के लिए और और सिगमा "स" के लिए प्रयुक्त होता है संज्ञा के अन्त में सिगमा आने पर विसर्ग का कार्य करता है और संज्ञा के एकवचन का द्योतक होता है । इस विचार से स्पष्टतः यूनानो Indos संस्कृत "इन्दुः" का रुपान्तरण है और बहुवचनार्थक ia प्रत्यय के लगने पर India शब्द संस्कृत "इन्दवः" का स्पष्ट रुपान्तरण है ।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर "इन्दु" तथा "इन्दवः" शब्द आये हैं जिनका अर्थ अनुवादकों ने मनुष्य किया है । देखो ऋ० ३/४०/५, ४/२८/२, ८/३/६, ९/८५/७ इत्यादि । थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में जातियों के नाम पर हो देशों के नाम रख दिए गए । प्रायः एक वंश को किसी पुरखा के नाम से पहचाना जाता था । इसे बहुवचन में प्रयोग

---

[1] शास्त्री, ला० ध० : **कान्यकुब्ज वंशावली**, ओम मुद्रण कार्यालय : कानपुर।

किया जाता था, जैसे — यादव, भरतजन, आदि। मध्य-एशिया और मध्यपूर्व में भी यही प्रथा मिलती है और इस प्रकार हम स्पष्टतः हस्ति अर्थात् हत्ती, मित्राणि अर्थात् मितन्नी, इलानि अर्थात् ऐल, कश्शि या काशि अर्थात् केसाइट, हर्युं अर्थात् हरियन, मद्र अर्थात् मोडियन, पृथु अर्थात् पार्थियन, सगर अर्थात् सर्गतियन और इसी प्रकार वासुकानि, आर्जवाः, आमीक, ओर्व, तुर्वस् आदि जातियों को जानते हैं। ठीक इसी प्रकार "इन्दु" या "इन्दवः इन्दु नाम के पुरखों से उत्पन्न जाति और उसके देश के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

पुराणों की वंशावली देखने पर ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से सोम, सोम के बृहस्पति पत्नि तारा से उत्पन्न बुध, बुध के मनु पुत्री इला से उत्पन्न पुरुरवा और इसी क्रम में अनेक वंशों का वर्णन है जिनका निवास प्रायः उत्तर और पश्चिम दिशाओं में हुआ और उनमें से अनेक म्लेच्छ हो गए। इस सोमवंश से उत्पन्न होने वाले प्रसिद्ध वंशों में यादव, द्रुह्यु, तुर्वश, कान्यकुब्ज, पोरव, और आणव हैं जो सभी पश्चिमी भारत के क्षेत्र हैं जबकि सूर्यवंशी अयोध्या, विदेह, वैशाली आदि पूर्वी भारत के क्षेत्र हैं। पुरणों में सोम को ही कहीं चन्द्र और कहीं इन्दु कहा गया है। ऋग्वेद के "इन्दवः" शब्द से सम्भवतः इन्हीं चन्द्रवंशीय जातियों का उल्लेख हुआ है जिनका पश्चिमी भारत में निवास होने के कारण विदेशी पाश्चात्य इन्हें "इन्दु" या "इन्दिअ" कहने लगे और कालान्तर में यही शब्द अरबी-फारसी लिपि में "हे" अक्षर से लिखा गया जो भारत में आकर "हिन्दू" हो गया तथापि योरप में आजतक 'इन्दिअ" ही वर्तमान है।

यद्यपि यह निश्चित है कि भारत का अत्यंत प्राचीन काल से योरप, अफ्रीका तथा एशिया के देशों से सम्पर्क सूत्र मिलता है और बड़े पैमाने पर प्रवास तथा वाणिज्य के सम्बन्ध मिलते हैं तथापि इस देश का स्पष्ट नाम पाश्चात्यों की स्मृति में प्राप्त नहीं होता। 'भारतवर्ष' नाम कदाचित मध्यदेश में ही प्रसिद्ध रहा जो कि प्रियव्रत वंश में ऋषभदेव के पुत्र जड़ भरत के समय अजनाभखण्ड से बदल कर बना था। यह नाम विदेशों में प्रसिद्ध नहीं हुआ और विदेशी इस देश को चन्द्रवंशी राजाओं का देश ही जानते रहे।

इस प्रकार व्याख्या करने पर "हिन्दू" अर्थात् "इन्दु" शब्द अत्यंत प्राचीन है और ऋग्वेद काल अथवा इसके पूर्व से ही विश्व इसी नाम से भारत से परिचित रहा है। यही शब्द कालान्तर में समस्त भारतीयों के लिए प्रयुक्त होने लग।

भारतीय काल गणना

दामोदर झा*

'भारतीय कालगणना' से हमारा तात्पर्य है, भारतवर्ष में प्रचलित कालगणना; इसलिए सर्वप्रथम भारत में काल को किस रूप में समझा गया है और उसकी गणना किस प्रकार की गयी है इन दो बातों पर हमें यहाँ विशेष रूप से ध्यान देना है। यह विषय इतना व्यापक है कि यहाँ थोड़े से समय में इस पर अच्छी तरह प्रकाश डालना बहुत ही कठिन हैं। फिर भी स्थालीपुलाकन्याय से मैं यहाँ इस विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने का यत्न करूँगा।

'काल' शब्द संस्कृत के 'कल संख्याने' इस गणनार्थक धातु से बना है। इसका अर्थ है गणना करने वाला। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु की आयु की यह गणना करता रहता है। भारतीय दार्शनिकों में कइयों ने तो काल को ही परमेश्वर माना है। इसका स्वरूप नित्य है। अर्थात् यह निरन्तर चलने वाला तत्व है। यह निरन्तर जगत की कलना अर्थात गणना करता रहता है, जैसा कि भोजराज के सांख्य[1] में कहा है—

भावि-भवद् भूतमयं कलयति जगदेषु कालोऽत:।

अर्थात् भविष्यत्, वर्तमान और भूत के रूप में यह जगत की गणना करता रहता है, अत: इसे काल कहते हैं।

इस प्रकार इस निरन्तर प्रवहमान काल की विभाग गणना नहीं हो सकती। फिर भी व्यवहार चलाने के लिए वैज्ञानिक आधार पर इसके विभाग कल्पित किये गये हैं। इस गणनात्मक काल के दो भेद हैं, एक सूक्ष्म अथवा अमूर्त तथा दूसरा स्थूल अर्थात् मूर्त। जैसा कि सूर्य सिद्धान्त[2] में कहा गया है—

लोकानामन्तकृत् काल: कालोऽन्य: कलनात्मक:।
सद्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते॥
प्राणादि: कथितो मूर्तस्त्रुटयद्योऽमूर्तसंज्ञक:।

अर्थात् श्वासोच्छास से बड़े काल को मूर्त तथा त्रुटि आदि सूक्ष्म काल को अमूर्त कहा जाता है। कमल के पत्ते में सूई से छेद करने में जितना समय लगता है उसे त्रुटि कहते हैं। त्रुटि से लेकर ब्रह्मायु अथवा महाप्रलय तक के काल की गणना शास्त्रों में की गयी है। ब्रह्मा प्रतिदिन प्रात:काल सृष्टि करते हैं तथा सायंकाल उसका प्रलय कर देते हैं। फिर भी प्रलय में सृष्टि का बीजनाश नहीं होता है। ब्रह्मायु के अन्त में अर्थात् महाप्रलय में यह सृष्टि अव्यक्त में लीन हो जाती है। ये सभी बातें शास्त्र[3] में इस प्रकार कही गयी हैं—

काल: पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मना।
कान्ते स पक्वस्तेनैव सहाव्यक्तेलयं व्रजेत्॥

पुराणों में तो ब्रह्मायु से भी अधिक रुद्र आदि की आयु की कल्पना की गयी है। केवल सदाशिव को ही कालातीत, अनन्त कहा गया है। अस्तु, छोड़िए इन अनन्त कालों को हमें तो केवल सृष्टिकाल से ही प्रयोजन है, जैसा कि भास्कराचार्य[4] ने भी कहा है—

यत: सृष्टिरेषां दिनादौ दिनान्ते लयस्तेषु सत्स्वेवतच्चार चिन्ता।

अर्थात् ब्रह्मा के दिनादि में सृष्टि होती है तथा दिनान्त में उसका लय हो जाता है। परन्तु प्रत्येक सृष्टि का स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं होता है। उनमें परस्पर एकरूपता रहती है। इस बात का संकेत हमें प्रतिदिन सन्ध्या वन्दन

---

* प्रवक्ता, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम, होशियारपुर।

[1] माधवाचार्य, कालमाधव, पृ० २४, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई संवत् १९७३।

[2] सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लो० १०-११।

[3] भास्कराचार्य, सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, १-१५ वासनाभाष्य।

[4] वही, १-२७।

के समय पढ़े जाने वाले अघमर्षण के महान सृष्टिसूत्र में उपलब्ध होता है, जैसे—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।
समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।[1]

यहाँ स्पष्टतः काल के अनेक विभागों की सृष्टि विधाता द्वारा की गयी बात बतलायी गयी है । ये विभाग प्रत्येक कल्प में समान ही रहते हैं । इस समता का कारण है इनकी वैज्ञानिकता । प्रत्येक कालविभाग इसी वैज्ञानिकता से निश्चित किये गये हैं ।

संसार की प्रत्येक प्राचीन सभ्यता में अपने-अपने ढंग की काल गणना प्रचलित रही है । परन्तु भारत के अतिरिक्त अन्य देशों की सभ्यताएं अत्यन्त स्थूल और अवैज्ञानिक आधार पर काल गणना करती रही हैं । जैसे, मिश्र में नील नदी में आने वाली बाढ़ से वर्ष गणना की जाती थी । यूरोप में बहुत बाद तक दस महीनों का ही वर्ष माना जाता था । उनके महीनों के नाम भी ग्रीक देवताओं के नाम पर कल्पित हैं जबकि भारतीय मासों के नाम वैज्ञानिक आधार पर हैं । आजकल संसार में सर्वाधिक प्रचलित ईस्वी काल गणना भयंकर स्थूलताओं से भरी है । चार सौ वर्षों में भी यह पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हो पाती । अगर इसकी त्रुटियाँ गिनाने लगें तो अलग एक पुस्तक ही तैयार हो जायेगी । इसके विपरीत भारतीय कालगणना प्रतिपल अपनी शुद्धता का निर्वाह करती चलती है । इसका आधार ग्रहों की गतियाँ हैं जो वैज्ञानिक रूप में ऋतुओं को साथ लिये चलता है ।

भारतीय कालगणना[2] में सृष्टि से प्रारम्भ कर प्रलय तक का विचार किया जाता है । एक त्रुटि सेकेण्ड का ३,३७५ वाँ भाग होता है । इसीसे इसकी सूक्ष्मता का अनुमान किया जा सकता है । जिस समय विदेशियों को वर्ष का मान भी ठीक से ज्ञात नहीं था उस समय भारतीय ऋषि त्रुटि तक की सूक्ष्म गणना करने में समर्थ थे । यह भारतीयों के लिए बड़े गौरव की बात है ।

भारतीय ग्रन्थों[3] में काल के ९ प्रकार के मानों का प्रयोग मिलता है । ये मान हैं—ब्रह्म, दिव्य, पित्र्य, मन्वन्तर, बार्हस्पत्य, सौर, सायन, चान्द्र और नाक्षत्र । लोकव्यवहार में इनमें से सौर, सायन, चान्द्र और नाक्षत्र इन चार मानों का ही प्रयोग होता है । धार्मिक कार्यों में इन चारों के अतिरिक्त बार्हस्पत्यमान का भी प्रयोग होता है । बाकी चार मानों का प्रयोग केवल शास्त्र में अथवा धार्मिक संकल्प में किया जाता है। इन ९ मानों में केवल नाक्षत्र मान वैज्ञानिक दृष्टि से स्थिर है । अतः गणिताचार्यों ने नाक्षत्रमान को ही अन्य कालमानों का मूल आधार स्वीकार किया है। नाक्षत्रमान उसे कहते हैं, जो किसी भी स्थिर नक्षत्र के एक चक्र पूरा करने से बनता है । अर्थात् ६० घटियों का एक नाक्षत्र होता है । एक नाक्षत्र दिन २१,६०० असु का होता है । स्मरणीय है कि प्रत्येक वृत्त में २१,६०० अंश होते हैं । पृथ्वी भी विषुवन्यमण्डल की सीध में अपने अक्ष पर प्रतिदिन एक चक्र पूरा करती है । इसलिए विषुवन्यमण्डल मे प्रत्येक अंश असु कहलाता है । इन्हीं २१,६०० असुओं का एक नाक्षत्र अहोरात्र होता है ।

सूर्योदय से सूर्योदय तक का जो समय है उसे सायनमान कहते हैं । लोकजीवन में यह सर्वाधिक प्रचलित है । इसमें दो मत हैं । सूर्य सिद्धान्त के अनुसार लंका में अर्धरात्रि के समय सृष्टि का आरम्भ हुआ था । अतः अर्धरात्रि से ही सायन दिन बदलता है । विश्व में यही मत सर्वाधिक प्रचलित है । विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के मत में लंका में सूर्योदय के समय सृष्टि का आरम्भ हुआ था । अतः इस मत में सूर्योदय से सायन दिन बदलता है । रवि, सोम आदि वार सायन गणना के हैं । रविवार ही प्रथम क्यों है और उसके बाद सोम आदि वारों का क्रम क्यों है इस विषय में बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण है जो ग्रहों के कक्षाक्रम पर आधारित है । यह क्रम यह प्रमाणित करता है कि भारत से ही यह अन्य देशों में

---

१. ऋग्वेदसंहिता, १०,१९०, १-३ ।
२. भास्कराचार्य, सिद्धान्त शिरोमणि, गणिताध्याय १-६ ।
३. वही १-३२ ।

गया है। समयाभाव से यहाँ विस्तार से इसका वर्णन नहीं किया जा रहा है। एक सायन मध्यममान से २१,६५९ असु का होता है।

अपनी कक्षा पर सूर्य की परिक्रमा करती हुयी पृथ्वी जितने समय में एक अंश खिसक जाती है, उतने समय को एक सौर दिन कहते हैं। एक सौर दिन मध्यममान से २१,९७६ असु का होता है। पृथ्वी अपनी कक्षा पर जितनी देर में एक परिक्रमा पूरी करती है उतने समय को सौरवर्ष कहते हैं। एक सौरवर्ष ३६० सौर दिन का अथवा तीन सौ सवा पैंसठ के लगभग सायन दिनों का होता है। सौर वर्ष का १२ वाँ भाग अथवा एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति तक का समय सौरमास कहलाता है।

सौरवर्ष दो प्रकार का होता है। इन्हें समझना बहुत आवश्यक है। सृष्टि के प्रारम्भ में विषुवन्यमण्डल और पृथ्वी की कक्षा की सन्धि अश्विनी नक्षत्र में थी। बाद में धीरे-धीरे यह सन्धि पश्चिम की ओर खिसकती गयी और अश्विनी नक्षत्र वहीं स्थिर रहा। इस प्रकार सौरवर्ष की दो गणनायें चल पड़ी—एक अश्विनी नक्षत्र से जिसे निरयण कहा गया, और, दूसरी उपर्युक्त सन्धि से जिसे सायन कहा गया। भारत के लगभग सभी प्रान्तों में निरयण सौरवर्ष ही व्यवहार और धर्मकार्य में मान्य है। परन्तु यह वर्ष ऋतु चक्र से धीरे-धीरे पीछे हटता जा रहा है। इसके विपरीत सायनवर्ष ऋतुचक्र के साथ-साथ चलता है। इसलिए भारत सरकार के राष्ट्रीय पंचांग में सायन वर्ष को ही स्वीकार किया गया है। ईस्वी वर्ष भी सायन ही है। सायन वर्ष निरयणवर्ष से करीब साढ़े आठ मिनट छोटा होता है। वर्तमान में निरयणवर्ष सायनवर्ष अथवा ऋतुचक्र से लगभग साढ़े तेइस दिन पीछे चल रहा है।

पृथ्वी अपनी कक्षा पर प्रतिदिन लगभग एक अंश चलती है। चन्द्रमा शीघ्रगति होने से अधिक चलता है। इसलिए सूर्य और चन्द्रमा की गति में जब १२ अंश का अन्तर हो जाता है तो इसे एक तिथि कहते हैं। अमावास्या में इन दोनों का अन्तर शून्य होता है और पूर्णिमा में १८० अंश। तिथि को चान्द्रदिन भी कहते हैं। चान्द्रदिन सायन दिन से छोटा होता है। इसका मान २१, ३२० असु के लगभग है। चान्द्रमासों के नाम चन्द्रमा के नक्षत्रों के आधार पर हैं। जिस पूर्णिमा में चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र में हो उस मास को चैत्र कहते हैं। इसी प्रकार विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ आदि मासों के नाम निश्चित किये गये हैं। एक चान्द्रमास लगभग साढ़े २९ दिन का होता है। चान्द्रवर्ष भी सौरवर्ष से करीब ११ दिन छोटा होता है। अतः ३३ मासों के बाद यह अन्तर करीब एक मास का हो जाता है। अतः चान्द्रमास को ऋतुचक्र के साथ रखने के लिए ३३ मास बाद इस अन्तर को मलमास या अधिकमास के रूप में सौरमास के साथ अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस्लामी वर्ष-गणना में इस प्रक्रिया को नहीं स्वीकार किया गया है जबकि उनका वर्ष चान्द्र है। अतः उनके मास प्रति ३३ वें महीने ऋतुचक्र से एक मास पीछे हटते जा रहे हैं।

उपर्युक्त इन चारों व्यावहारिक मानों के अतिरिक्त बृहस्पति की गति से बार्हस्पत्यमान की गणना की जाती है। इसका उपयोग वर्षगणना में किया जाता है। इसके दो भेद हैं :—एक १२ वर्षीय चक्र और दूसरा ६० वर्षीय चक्र। बृहस्पति करीब एक वर्ष में अर्थात् ३६१ दिन में एक राशि पार करता है इस प्रकार करीब १२ वर्षों में उसका एक चक्र पूरा हो जाता है। इन १२ वर्षों के नाम आश्विन आदि १२ महीनों के नाम पर ही रखे गये हैं। जैसे मेष में आश्विन, वृष में कार्तिक आदि। दूसरे प्रकार का ६० वर्षीय चक्र वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** के अनुसार पाँच-पाँच वर्षों के १२ युगों का होता है जिसका प्रारंभ कल्पादि से है। परन्तु **विष्णुधर्मोत्तर पुराण** के अनुसार यह ज्योतिष सम्बन्धी एक विशेष घटना पर आधारित है। यह घटना सर्वप्रथम कल्पादि से ७०,४०,००,००० (सत्तर करोड़ चालीस लाख) वर्ष बाद हुई थी। ऐसी घटना प्रति ८६,४०,००,००० (छेयासी करोड़ चालीस लाख) वर्ष के संपूर्ण कल्प में केवल पाँच बार होती है। **विष्णु धर्मोत्तर पुराण** के अनुसार वह घटना इस प्रकार की है—

माघशुक्लसमारम्भे चन्द्रार्कौ वासवर्क्षगौ।
जीवयुक्तौ यदा स्यातां····सृष्टयब्दाविस्तदा भवेत् ॥[1]

अर्थात् माघशुक्ल प्रतिपदा को यदि सूर्य चन्द्र और बृहस्पति तीनों धनिष्ठा नक्षत्र में एकत्र हो जायें तो इस

---

[1] बल्लालसेन, अद्भुतसागर, पृ० १२५।

सृष्ट्यब्द का प्रारम्भ होता है। इन ६० वर्षों के प्रभव, विभव आदि नाम और राष्ट्र के लिए उनके फल वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रति ६० वर्षों के बाद राष्ट्र में दुर्भिक्ष सुभिक्ष और युद्ध आदि घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार की राष्ट्रीय घटनाओं की पुनरावृत्ति उपयुक्त १२ वर्षीय चक्र में भी कल्पित की गई है। संभवतः इसी मान्यता के अनुसार 'बारह वर्षों के बाद घूरे के भी दिन लौटने' की कहावत प्रचलित है। इन दोनों प्रकार के वर्षचक्रों में ६० वर्षीय चक्र विशेष उपयोगी है क्योंकि इसके प्रथम, द्वितीय आदि चक्रों को पुनरावृत्ति करके काफी लम्बे समय तक घटनाओं की परम्परा को स्मृति में रखा जा सकता है। कलादि में विषय तथा कलियुगादि में प्रभाव नाम संवत्सर था। वर्तमान में युवा संवत्सर चल रहा है।

भारतीय मान्यता के अनुसार चन्द्र का जो भाग पृथ्वी से दूसरी तरफ है वहाँ पितरों का निवास है। अतः अमावास्या को पितरों का मध्याह्न तथा पूर्णिमा को मध्यरात्रि होती है। अर्थात् शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध से कृष्णपक्ष के पूर्वार्ध तक पितरों की रात्रि तथा कृष्णपक्ष के उत्तरार्ध से शुक्लपक्ष के पूर्वार्ध तक उनका दिन होता है। किन्तु अर्धरात्रि से वारप्रवेश मानने से कृष्णपक्ष में दिन तथा शुक्लपक्ष में रात्रि मानी जाती है। अतः कृष्णपक्ष में विशेषतः आमावास्या को पितरों का श्राद्ध किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का एक चन्द्रमास पितरों का अहोरात्र होता है अर्थात् हमारे एक चान्द्रवर्ष में पितरों के बारह दिन होते हैं।

इसी प्रकार देवताओं का निवास पृथ्वी पर ही उत्तरी ध्रुव के नीचे माना गया है। अतः विषवन्यमण्डल देवों का क्षितिज है। इसका अभिप्राय है कि सूर्य जब विषुवत्रेखा से उत्तरी गोलार्ध में रहता है तो देवों का दिन होता है। जब सूर्य दक्षिणी गोलार्ध में रहता हैं तो देवों की रात्रि होती है। अर्थात् सायण कर्क की संक्रान्ति में देवों का मध्याह्न तथा सायण मकर की संक्रान्ति में उनकी रात्रि होती है। यहाँ भी अर्धरात्रि से वारप्रवेश मानने से उत्तरायण में दिन और दक्षिणायण में रात्रि मानी जाती है। इसलिए सभी देव कार्य उत्तरायण में किये जाते हैं। इस व्यवस्था का अर्थ यह है कि मनुष्य का एक वर्ष देवों का एक दिन तथा मनुष्यों का ३६० वर्ष देवों का एक वर्ष होता है। युगमान बताने के लिए **सूर्यसिद्धान्त** और **पुराणों** में दिव्यमान का उपयोग किया गया है।

युग पद्धति

विशेष-विशेष घटनाओं का लम्बे समय तक स्मृति में रखने के लिए प्राचीन चिन्तकों को किसी लम्बे कालखण्ड की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। परन्तु यह लम्बा कालखण्ड प्राचीन ऋषियों के वैज्ञानिक प्रकृति के अनुसार किसी वैज्ञानिक घटना विशेष पर ही आधारित किया जाना उचित समझा गया। इस अनुसंधान में उन्होंने देखा कि ५ वर्षों के अन्तर से माघ शुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ में सूर्य चन्द्र घनिष्ठा नक्षत्र में आते हैं। अतः वैदिक ऋषियों ने पाँच वर्षों का एक युग निश्चित किया। इसी आधार पर **वेदांग ज्योतिष** की सारी गणना निश्चित की गई। इस युग को उन्होंने प्रजापति रूप माना, जैसे—

पंच संवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्त्वयनमासांगं प्रणम्य शिरसा शुचिः॥[1]

इस पंचवर्षीय युग का उल्लेख वेद, वेदांग, महाभारत तथा पुराणों में बहुत उपलब्ध होता है। बाद में यह देखा गया है कि कभी-कभी माघ शुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ में घनिष्ठा नक्षत्र में सूर्य चन्द्र के साथ बृहस्पति भी आ जाता है। ऐसी विशेषता बड़े लम्बे समय के अन्तराल से आती है। अतः इस विशेषता को आधार बनाकर १२ युगों के ६० वर्षीय चक्र का प्रादुर्भाव हुआ; जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

इसी पंचवर्षीय युग के गुणक बढ़ाकर (चार लाख बत्तीस हजार) ४,३२,००० वर्षों के युग का विकास किया गया। शाहजहाँ के दरबारी ज्योतिषी मुनीश्वर[2] ने अपने **सिद्धान्त सार्वभौम** नामक ग्रन्थ में इसका विकासक्रम बतलाते हुए कहा है कि पाँच वर्षों का एक प्रथम

---

[1] वेदांग ज्योतिष (याजुषज्योतिष) श्लो० १।

[2] मुनीश्वर, सिद्धान्त सार्वभौम, मध्याधिकार १८।

लघुयुग होता है। बारह प्रथम लघुयुगों का द्वितीय लघुयुग होता है। फिर १२ द्वितीय लघुयुगों का तृतीय लघुयुग होता है। ऐसे ६०० तृतीय लघुयुगों का अर्थात् ४,३२,००० वर्षो का कलियुग होता है। उस कलियुग का दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना सतयुग माना गया है। इन चारों युगों को मिलाकर ४३,२०,००० (तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्षों का एक महायुग होता है। ये सभी मान ज्योतिषविज्ञान के अनुसार ग्रह गतियों के लम्बे समगुणक (factor) पर आधारित है। इस युग पद्धति का मूल रूप वेद में है। कुछ विकसित रूप यास्क के **निरुक्त** में तथा पूर्ण विकसित रूप **मनु स्मृति** तथा महाभारत आदि में उपलब्ध होता है।

भारत के माननीय ज्योतिषियों में सर्वप्रथम पटना निवासी आर्यभट्ट के अनुसार महायुग मान तो ४३,२०,००० (तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्ष का भी है। परन्तु सतयुग आदि चारों युगों की मान समानरूप से १०,८०,००० (दस लाख अस्सी हजार) वर्ष के हैं। यद्यपि ज्योतिष की दृष्टि से यह अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें युग में भी महायुग के समान ग्रह गतियों के समापवर्तक बनते हैं जो उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्त के मत में नहीं हैं, फिर भी सूर्यसिद्धांत का मत ही भारत में अधिक प्रचलित है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत में कालगणना की तीन पद्धतियाँ प्रचलित हैं; इनमें प्रथम आर्यभट्ट की पद्धति जो केरल में प्रचलित है, द्वितीय पद्धति है **विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ब्रह्मगुप्त** और **भास्कराचार्य** की यह गुजरात और महाराष्ट्र में प्रचलित है, और तीसरी पद्धति है **सूर्यसिद्धान्त** की जो शेष भारत में प्रचलित है। इनमें द्वितीय और तृतीय पद्धति कुछ मतभेद के साथ समान-समान युग पद्धति मानती है। आर्यभट्ट की पद्धति भिन्न पर अधिक वैज्ञानिक है।

सूर्यसिद्धान्त और **ब्रह्मगुप्त** के मत में ७१ महायुगों का तथा आर्यभट्ट के मत में ७२ महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। **सूर्यसिद्धान्त** तथा **ब्रह्मगुप्त** के मत में १४ मन्वन्तर तथा सतयुग के बराबर की १५ मनु संधियों को मिलाकर हजार महायुग का कल्पकाल होता है। आर्यभट्ट के मत में १४ मन्वन्तरों का अर्थात् एकहजारआठ महायुगों का कल्पकाल होता है। चौदह मनुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार से हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष उत्तमज, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसवर्णि, धर्मसावर्णि, रौद, रौच्य और भैत्यक। १४ मनुओं का कल्पकाल ब्रह्मा का दिन तथा इतनी ही रात्रि होती है। इस प्रकार सौ वर्षों की ब्रह्मा की आयु होती है जिसे महाकल्प कहते हैं। **सूर्यसिद्धान्त** के अनुसार वर्तमान ब्रह्मा के ५० वर्ष बीत चुके हैं और ५१ वें वर्ष का यह प्रथम दिन चल रहा है। यही मत आजकल भारत में संकल्पादि म प्रचलित है। आर्यभट्ट की परम्परा के वटेश्वर[1] ने **स्कन्दपुराण**[2] के मत से ब्रह्मा की गतायु साढ़े आठ वर्ष बतायी है। पर यह मत प्रचलित नहीं है। ब्रह्मा प्रतिदिन आदि में सृष्टि तथा अन्त में इसका संहार कर देते हैं। अतः भास्कराचार्य ने उपर्युक्त विवाद को समाप्त करते हुए कहा है कि हमें ब्रह्मा की आयु की चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि वर्तमान सृष्टि उनके इसी दिन तक सत्ता में रहने वाली है। एक मत के अनुसार सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी आदि ग्रह कल्प से आगे महाकाल्प भर रहने वाले हैं।

कल्पगत[3]

वर्तमान कल्प में ६ मनु बीत चुके हैं। सातवें मनु के २७ महायुग भी बीत चुके हैं। २८वें महायुग में सतयुग, त्रेता और द्वापर युग भी बीत चुके हैं। शक संवत् के प्रारंभ में कलियुग के ३,१७९ वर्ष बीत चुके थे। इसमें वर्तमान शक संवत् १९०४ जोड़ने से कुल १,९७,२९,४९,०८३ (एक अरब सतानबे करोड़ उनतीस लाख उनचास हजार तिरासी) वर्ष वर्तमान कल्प के बीत चुके हैं। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार कल्पादि के बाद ग्रह, नक्षत्र, देव और दैत्य आदि चराचर की सृष्टि करने में ब्रह्मा को १,७०,६४,००० (एक करोड़ सत्तर लाख और चौंसठ हजार) वर्ष लग गये थे। अतः कल्पगत वर्ष में यह संख्या घटाने से १,९५,५८,८५,०८३ (एक अरब पंचानवे करोड अठावन लाख पचासी हजार तिरासी) वर्ष सृष्टयादि से बीत चुके हैं। अर्थात् सूर्य,

---

[1] वटेश्वरसिद्धान्त, मध्याधिकार १-१०।

[2] स्कन्दपुराण, हाटकेश्वरमाहात्म्य, अध्या० २७२, श्लो० ८।

[3] भास्कराचार्य, सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय १-२८।

चन्द्र और पृथ्वी आदि ग्रहपिण्डों का निर्माणकार्य पूर्ण हुए इतने वर्ष बीत चुके हैं यद्यपि इनकी रचना का प्रारंभ कल्पादि से ही माना जाता है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में तथा अन्यत्र भी जहां कहीं हिन्दु जाति के लोग रहते हैं, वे परंपरा से प्रतिदिन प्रातःकाल संन्ध्यावन्दन के समय तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के प्रारंभ में संकल्प के समय उपर्युक्त सभी कालखण्डों का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार सृष्टि के इतिहास को एक आवश्यक धार्मिक कृत्य का अंग बना कर हिन्दु जाति ने इतिहास को सुरक्षित रखने का दायित्व प्रत्येक हिन्दु को देकर संसार में एक अनुपम तथा अनोखा उदाहरण स्थापित किया है। वैदिक मन्त्रों के विनियोग की विधि तथा गोत्र-प्रवर नियम से भी भारतीयों की इतिहास प्रियता की परम्परा वेद काल से ही प्रचलित रही है। कौन सा मन्वन्तर तथा युग किस तिथि को प्रारंभ हुआ इसकी स्मृति अब भी शास्त्रों में सुरक्षित है। जैसे युगादि[1] तिथियों को लें।

कार्तिक शुक्ल नवमी बुधवार प्रथम प्रहर श्रवण नक्षत्र वृद्धियोग में सत्ययुग का प्रारंभ हुआ था। सत्ययुग में ही मत्स्य, कच्छप, वराह और नृसिंह ये चार अवतार हुये थे। वैशाख शुक्ल तृतीया सोमवार द्वितीय प्रहर रोहिणी नक्षत्र शोभन योग में त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ था। इसमें वामन, परशुराम और राम ये तीन अवतार हुये थे। माघ कृष्ण अमावास्या शुक्रवार तृतीय प्रहर धनिष्ठा नक्षत्र वरीयान योग में द्वापर का प्रारम्भ हुआ था। इसमें श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। भाद्र कृष्ण त्रयोदशी शुक्रवार की अर्धरात्रि के सयय आश्लेषा नक्षत्र व्यतितयोग में कलियुग का प्रारंभ हुआ था। इसमें बुद्ध का अवतार हो चुका है तथा कल्कि अवतार होने की भविष्यवाणी पुराणों में उपलब्ध होती है। उपर्युक्त युगादि तिथियां शुक्लादि मासगणना की दृष्टि से कही गयी हैं। ये सभी तिथियाँ ज्योतिष की गणना से ठीक बैठती हैं।

इस प्रकार के वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित रहने पर भी जो लोग भारतीय कालगणना और इतिहास को चार हजार वर्ष प्राचीन बताते हैं उनके लिए हम यह यही सूचित कह कर समाप्त करेंगे कि **मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीत की।**

●

---

[1] मुहुर्तचिन्तामणि १-५७ पीयूषधारा टीका।

हिन्दू काल-गणना-पद्धति : भागवत महापुराण द्वारा प्रक्षिप्त प्रकाश

तहसीलदार सिंह*

प्राचीन काल में भारत के लोग इतने संकीर्ण मस्तिष्क एवं अविकसित बुद्धि वाले नहीं थे जितना कि पाश्चात्य आलोचकगण उनके विषय में सोचते तथा प्रचारित करते हैं।[1] वस्तुतः हिन्दुओं की विज्ञान सम्बन्धी अवधारणा वर्तमान पाश्चात्य अवधारणा से भिन्न थी। इनके यहाँ परम्परागत रूपेण छः विज्ञानों का प्रचलन था इन्हें वेदाङ्ग नाम से अभिहित किया जाता था। ये थे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। ज्योतिष में फलित ज्योतिष (Astrology), गणित ज्योतिष अथवा खगोल विज्ञान (Astronomy) तथा खगोल-भौतिकी (Astrophysics) भी समाहित थे। सोलह विद्याओं और चौंसठ कलाओं की गणना भी षड्वेदांग में ही होती थी। यहाँ हम ज्योतिष के आधारभूत तत्व कालमापन या कालगणना के विषय में **भागवत पुराण** द्वारा प्रक्षेपित प्रकाश पर एक संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

वैदिककाल से ही ज्योतिष सम्बन्धी हिन्दुओं के ज्ञान के लिखित प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्र ज्योतिष-ग्रन्थों की रचना वराहमिहिर के काल (५०५–५८७ ई०) से प्रमाणित होती है परन्तु वेदों, ब्राह्मणों स्मृतियों और सूत्रग्रन्थों में भी यत्र-तत्र ज्योतिष सम्बन्धी तथ्य प्राप्त होते हैं। पुराण भी इस परिपाटी के अपवाद नहीं हैं। **विष्णुमहापुराण**[2] तथा **भागवतमहापुराण**[3] में कालमान का विवेचन है।

भागवत महापुराण : तिथि-निर्धारण तथा विषय वस्तु

द्वादश स्कन्धों में विभक्त **भागवत** एक वैष्णव महापुराण है। इसके विभिन्न स्कन्धों में वंशावलियों, लोककथाओं, मिथकों, यज्ञों तथा उनकी विधियों, जातियों के कर्तव्यों, विभिन्न आश्रम एवं उनके धर्मों तथा ब्रह्माण्डोत्पत्ति एवं सृष्टिक्रम सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होता है। सर्वाधिक प्रमुखता श्रीकृष्ण के जीवन चरित तथा कुछ अन्य वैष्णव अवतारों के वर्णन को ही दी गयी है। इसकी रचनातिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विषयान्तर के भय से यहाँ हम तिथि-निर्धारण हेतु प्रतिपादित अनेक मतों का विवेचन न करते हुए सर्वमान्य सिद्धान्त का उल्लेख मात्र करना चाहते हैं। सभी तर्कों-वितर्कों के समुचित अध्ययन के पश्चात् हम यही कह सकते हैं कि इस महापुराण का रचनाकाल छठीं शताब्दी ई० है।[4] कम से कम प्रारम्भिक तथा मौलिक भागवत की संरचना इसी काल में हुई, जबकि हम क्षेपकों तथा कालक्रमानुसार हुए संपादनों तथा अधिवर्द्धनों को नकार नहीं सकते।

कालमापन : वैज्ञानिक आधार एवं सूक्ष्म ईकाइयाँ

सृष्टि के किसी पदार्थ का सूक्ष्मतम अंश परमाणु है। इसके आगे किसी प्रकार का अंशविभाग नहीं किया जा सकता। जब बहुत से परमाणु संकलित हो जाते हैं तो किसी स्थूल पदार्थ का विनिर्माण होता है। इस स्थूल पदार्थ को ही 'परम महान्' कहा जाता है। जैसे परमाणु सूक्ष्म होता है

---

* अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी—२२१ ००८।

[1] प्रभाकरमाचवे, **हिन्दुइज्म—इट्स कंट्रीब्यूशन टु साइंस एण्ड सिविलीजेशन**, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७६, पृ० २८।

[2] **श्रीविष्णुपुराण**, प्रथम अंश, अध्याय ४, गीताप्रेस, गोरखपुर १९६७, पृ० २० तथा आगे।

[3] **श्रीमद्भागवत महापुराणम्**, तृतीय स्कन्ध, अध्याय ११, पण्डित पुस्तकालय, काशी १९५२, पृ० १९७ तथा आगे।

[4] आर० सी० हाजरा, **स्टडीज इन द पुराणिक रिकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स**, यूनिवर्सिटी ऑव ढाका, ढाका १९४०, पृ० ५५।

तथा स्थूल भी होता है ठीक इसी तरह काल भी होता है। वह अव्यक्त रहता हुआ भी सब व्यक्त पदार्थों का भोग करता है और उनमें व्याप्त रहता है।[1] कालमापन की विभिन्न ईकाइयाँ निम्नवत् हैं—

१ अणु = २ परमाणु
१ परमाणु = $\frac{१}{२}$ अणु
३ अणु = १ त्रसरेणु
३ त्रसरेणु = १ त्रुटि
१०० त्रुटि = १ वेध
३ वेध = १ लव
३ लव = १ निमेष
३ निमेष = १ क्षण
५ क्षण = १ काष्ठा
१५ काष्ठा = १ लघु
१५ लघु = १ नाडिका
२ नाडिका = १ मुहूर्त
६ नाडिका = १ याम अथवा प्रहर
८ याम = १ अहोरात्र (दिन तथा रात)
१५ अहोरात्र = १ पक्ष
२ पक्ष = एक मास (एक कृष्ण तथा एक शुक्ल पक्ष)
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
१ अयन = ६ मास
२ अयन = १२ मास = १ वर्ष या संवत्सर (उत्तरायण एवं दक्षिणायण)
१ मानव संवत्सर = १ दैव (दिव्य) अहोरात्र = १ वत्सर
१ संवत्सर = १ सौरवर्ष

अधुनातम काल की इकाई के अनुसार १ अहोरात्र में २४ घण्टे होते हैं। २४ घण्टे का एक दिन अर्थात् आठ याम या प्रहर मानकर हम उपर्युक्त सारणी को इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं :--

८ याम = २४ घण्टे
१ याम = ३ घण्टे = १८० मिनट = १०,८०० सेकेन्ड
२ याम = ६ नाडिका = ३ घण्टे
१ नाडिका = $\frac{१}{२}$ घण्टा = ३० मिनट = १,८०० सेकेन्ड
२ नाडिका = २ मुहूर्त = १ घण्टा = ६० मिनट = ३,६०० सेकेन्ड
१५ लघु = १ नाडिका = ३० मिनट = १,८०० सेकेन्ड
१ लघु = २ मिनट = १२० सेकेन्ड
१५ काष्ठा = १ लघु = १२० सेकेन्ड
१ काष्ठा = ८ सेकेन्ड
५ क्षण = १ काष्ठा = ८ सेकेन्ड
१ क्षण = $\frac{८}{५}$ सेकेन्ड
३ निमेष = १ क्षण
१ निमेष = $\frac{१}{३}$ क्षण = $\frac{८}{१५}$ सेकेन्ड
३ लव = १ निमेष
१ लव = $\frac{१}{३}$ निमेष = $\frac{८}{४५}$ सेकेन्ड
३ वेध = १ लव
१ वेध = $\frac{१}{३}$ लव = $\frac{८}{१३५}$ सेकेन्ड
१०० त्रुटि = १ वेध
१ त्रुटि = $\frac{१}{१००}$ वेध = $\frac{८}{१३५००}$ सेकेन्ड
३ त्रसरेणु = १ त्रुटि
१ त्रसरेणु = $\frac{१}{३}$ त्रुटि = $\frac{८}{४०५००}$ सेकेन्ड
३ अणु = १ त्रसरेणु
१ अणु = $\frac{१}{३}$ त्रसरेणु = $\frac{८}{१२१५००}$
१ अणु = २ परमाणु
१ परमाणु = $\frac{१}{२}$ अणु = $\frac{४}{१,२१,५००}$ सेकेन्ड

अतएव स्पष्ट है कि समय की लघुतम इकाई परमाणु हुई जिसका मान $\frac{४}{१,२१,५००}$ सेकेन्ड होता था। इस प्रकार हमें प्रतीत होता है कि इतनी छोटी इकाई का उपयोग तो खगोल विज्ञान में में ही संभव है। प्राचीन भारतीय खगोलज्ञ सेकेन्ड के लाखवें भाग तक की गणना कर लेते थे यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि को प्रमाणित करने वाला तथ्य है।

उपर्युक्त इकाइयों को संक्षेप में परिभाषित भी किया गया है। जितने समय में सूर्य अपनी कक्षा में एक परमाणु

---

[1] १. श्रीमद्भागवतं महापुराणम् (भा० पु०) तृतीय स्कन्ध, अध्याय ११, श्लोक १-४।

को पार करता है वही समय काल की इकाई परमाणु है तथा जितने समय में सूर्य 'परम महान' अर्थात् सृष्टि या द्वादशराश्यात्मक भुवनकोश को पार करता है उस समय को संवत्सर कहते हैं ।[1] त्रसरेणु झरोखे के भीतर जानेवाली किरणों में ही दिखाई देता है वह सदैव ऊपर ही उठता है पृथ्वी पर नहीं गिरता अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म इकाई है । [2]परिवत्सर, इडावत्सर और अनुवत्सर नामक अन्य संवत्सर भी होते थे । मनुष्य की परमायु सौ संवत्सर होती है । ग्रह, नक्षत्र और तारे अपने चक्र (कक्ष्या) में रहते हुए वर्ष भर इस जगत (ब्रह्माण्ड) में चक्कर लगाते रहते हैं ।[3]

सृष्टि-क्रम में इन लघु इकाइयों के अतिरिक्त काल-मापन हेतु कुछ बृहत् इकाइयाँ भी हैं । उनसे सम्पूर्ण सृष्टि की गति, संरचना, प्रलय, पुनर्भव आदि की गणना की जाती है । कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युगों का एक चक्र होता है जिसमें युगों की संध्याएँ तथा संध्यांशों को सम्मिलित कर लेने पर १२००० दिव्य वर्ष हो जाते हैं ।[4] किसी भी युग का प्रारम्भ संध्या तथा अन्त संध्यांश से होता है । संध्या और संध्यांश को युग से पृथक् ही रखा जाता है ।

कृतयुग = ४,००० दिव्य वर्ष
कृतयुग की संध्या = ४०० ,, ,,
कृतयुग का संध्यांश = ४०० ,, ,,
= ४,८००

त्रेता युग = ३,००० ,, ,,
त्रेता युग की संध्या = ३०० ,, ,,
त्रेता युग का संध्यांश = ३०० ,, ,,
= ३,६००

द्वापर युग = २,००० ,, ,,
द्वपर युग की संध्या = २०० ,, ,,
द्वापर युग का संध्यांश = २०० ,, ,,
= २,४००

कलि युग = १,००० ,, ,,
कलियुग की संध्या = १०० ,, ,,
कलियुग का संध्यांश = १०० ,, ,,
= १,२००

चतुर्युगों का योग = १२,००० दिव्य वर्ष
१ कल्प = १ ब्रह्मा का दिन
१ ब्रह्मा का दिन = १००० युग चक्र = १२,००० × १००० दिव्य वर्ष
= १,२०,००,०००
१ ब्रह्मा की रात = १ ब्रह्मा का दिन
१ दिव्य वर्ष = ३६० चान्द्र वर्ष (१ चान्द्रवर्ष = १२ मास = ३६० अहोरात्र)

क्योंकि ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनुओं का कार्य-काल समाप्त हो जाता है अतएव

१ मन्वन्तर = $\frac{१०००}{१४}$ = ७१$\frac{३}{४}$ युगचक्र
अथवा, $\frac{१२०००\times१०००}{१४}$ = ८५७१४२$\frac{६}{७}$ दिव्यवर्ष
अथवा, $\frac{१२०००\times१०००\times३६०}{१४}$ = ३३७१४२६५७$\frac{१}{२}$ चान्द्रवर्ष

यह चान्द्रवर्ष लगभग मानव संवत्सर के बराबर होता है । कतिपय साक्ष्यों के आधार पर इसे ही अनुवत्सर कहते हैं ।

ब्रह्मा की आयु तथा सृष्टि का अस्तित्व

ब्रह्मा की आयु १०० दिव्य वर्ष है जिसका आधा परार्ध कहा जाता है । प्रथम परार्ध बीत चुका है । द्वितीय परार्ध चल रहा है । प्रथम परार्ध में ब्राह्मकल्प तथा पाद्मकल्प व्यतीत हो चुके हैं । द्वितीय परार्ध वराह कल्प से प्रारम्भ हुआ है । उपर्युक्त सारी गणना और ईकाइयाँ वराहकल्प की ही हैं ।

ब्रह्मा की आयु —
ब्रह्मा का एक दिन=१२०००००० दिव्य वर्ष
ब्रह्मा की एक रात=१२०००००० ,, ,,
अहोरात्र=(योग) = २४०००००० ,, ,,
ब्रह्मा का एक वर्ष = × ३६० ,, ,,
= ८६४०००००००

---

[1] भा० पु०, तृतीय स्कन्ध, अध्याय ११, श्लोक ४-५ ।
[2] तदैव श्लोक ५ ।
[3] तदैव, श्लोक १३ ।
[4] तदैव, श्लोक १८ ।

ब्रह्मा की आयु (१०० वर्ष)=×१००

८६४०००००००००० ,, ,,

ब्रह्मा की आयु (चान्द्र वर्ष में)×३६०

३१११०४००००००००००० चान्द्र वर्ष

कलियुग की स्थिति

यह वराह कल्प का सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। अतः कलियुग २८वाँ युग हुआ।

१ कलियुग = १,२०० × ३६०=४,३२,००० चान्द्रवर्ष

(संध्या और संन्ध्यांश समेत)

वराहकल्प=६० × ३६० + १ = १,८०,००१वाँ कल्प

कलियुग का प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० से हुआ। इस प्रकार इसके १९८२ ई० तक ३१०२ + १९८२ = ५,०८४ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[1]

कलियुग में धर्म का एक ही चरण होता है जब कि द्वापर, त्रेता और कृत युगों में क्रमशः दो, तीन और चार चरण होते हैं।[2] **सूर्यसिद्धान्त** नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में कृत युग को स्वर्ण युग कहा गया है। सभी युगों की अवधि **भागवत पुराण** के अनुकूल ही है। कतिपय विद्वानों ने क्रमशः घटते हुए चरणों के आधार पर ही कृत, त्रेता, द्वापर, कलि को क्रमशः स्वर्ण, रजत, कांस्य तथा लौह युग की संज्ञाओं से विभूषित किया है।[3] इस प्रकार भागवत पुराण की काल गणनाविधि कुछ ग्रन्थों से बिलकुल ही मिलती है जब कि कुछ अन्य इसका समर्थन करते हैं।[4]

●

---

[1] कलियुग की प्रारम्भिक तिथि हेतु द्रष्टव्य—एल० डी० स्वामिकन्नु पिल्लई, **एन इण्डियन एफेमेरिस** (ए० डी० ७००-ए० डी० १७६९), भाग प्रथम, खण्ड प्रथम, आगम प्रकाशन, दिल्ली १९८२, पृ० ३३५; जी० आर० काये, **मेम्वायर्स ऑव आर्कयालाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया**, सं० १८, हिन्दू एस्ट्रानॉमी टू ए० डी० १००, कलकत्ता १६२२, पृ० ३।

[2] भा० पु०, तृतीय स्कन्ध, अध्याय ११ श्लोक २१।

[3] ई० बर्गेस, **ट्रांसलेशन ऑव द सूर्य-सिद्धान्त**, इन्डोलॉजिकल बुकहाउस, वाराणसी, दिल्ली, पुनर्मुद्रित. १९७७, पृ० ९ तथा आगे।

[4] द्रष्टव्य आर० शामशास्त्री, **दि वैदिक कैलेन्डर**, गंगा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली १९७६, पृ० ७७-७८; **पद्म पुराण**, सृष्टि-खण्ड, अध्याय ३, श्लोक ४-१५, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांक २३१, सन् १८६४; एच० एच० विल्सन, **दि विष्णु पुराण**, पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता १९६१, अध्याय ३, पृ० १९ तथा आगे; **मार्कण्डेय पुराण**, अध्याय ४६, श्लोक ३६-४०, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालय बम्बई।

5490

उत्तर-प्रदेश के ऐतिहासिक स्रोत

ठाकुर प्रसाद वर्मा*

उत्तर-प्रदेश वर्तमान भारतीय गणराज्य का, जनसंख्या की दृष्टि से, सबसे बड़ा राज्य है; और ब्रिटिश शासन-काल से ही एक इकाई के रूप में जाना जाता है। लेकिन इस क्षेत्र की ऐतिहासिक सामग्री के आकलन के लिए जब हम तथ्य एकत्र करने लगते हैं तो हम यह देखते हैं कि प्राचीन काल में यह क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से एक इकाई नहीं रहा है। इसमें कई विख्यात जनपदों का समावेश था, जिनमें से कतिपय में गणतांत्रिक प्रशासन था लेकिन अधिकांश क्षेत्र राजतंत्रात्मक प्रशासन के अन्तर्गत थे।

वास्तव में इतिहास के विभिन्न कालों में उत्तर-प्रदेश में अनेक राजनीतिक केन्द्र थे। वैदिकयुग में इसका अधिकांश भाग ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र के अन्तर्गत था और इसी को आगे चलकर 'मध्यदेश' कहा गया। इसमें दिल्ली हरियाना का क्षेत्र भी सम्मिलित था। इसी के विषय में मनु घोषणा की थी :

> "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः॥"

अर्थात् मध्यदेश में प्रचलित रीति-रिवाज और प्रथाएं वैदिक संस्कृति के केन्द्र बिन्दु माने जाती थीं। उस समय वैदिक जनजातियाँ अपने-अपने परम्पराओं के साथ विभिन्न जनपदों में स्थिर होकर बस गयी थीं।

बुद्ध के समय में, जहाँ से वर्तमान इतिहासकार भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल को मानता है, समूचा उत्तर भारत षोडश महाजनपदों में स्थिर हो चुका था। इनमें काशी और कोसल परस्पर सम्प्रभुता के लिए संघर्षरत थे। बाद में मगध के साम्राज्य-विस्तार की नीति के कारण दोनों उसमें मिल गये। दूसरी ओर इलाहाबाद क्षेत्र में वत्स राज्य अवन्ति से संघर्षरत था। वत्स का राजा उदयन मगध के राजा दर्शक की पुत्री पद्मावती से विवाहित था। इस प्रकार ये क्षेत्र एक-दूसरे से राजनीतिक और अन्य अनेक विधानों में संबद्ध थे। मौर्यकाल में सत्ता का केन्द्र मगध में चला गया और उत्तर-प्रदेश का इतिहास न्यूनाधिक मगध के इतिहास से सम्बद्ध हो गया। लेकिन मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद जब शुङ्गों ने उत्तरी-भारत की सत्ता सम्भाली, तो संभवतः उनकी एक राजधानी अयोध्या अथवा साकेत में भी थी। इसके कुछ कारण गिनाए जा सकते हैं। जैसे पतंजलि ने, जो पुष्यमित्र शुङ्ग के पुरोहित थे, साकेत पर यवनों के आक्रमण का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पुष्यमित्र के छठीं पीढ़ी में उत्पन्न धनदेव का एक अभिलेख अयोध्या से प्राप्त हुआ है। बहुत सम्भव है कि अयोध्या शुङ्गों का पैतृक राज्य रहा हो। पुष्यमित्र शुङ्ग ने आजीवन सम्राट की उपाधि नहीं धारण की। अपने को सेनापति ही कहलाना पसन्द किया। बहुत सम्भव है कि उसने अपने इसी नीति के कारण पाटलिपुत्र की अपेक्षा अयोध्या को ही अपना केन्द्र बनाया हो और वहीं से दो अश्वमेध यज्ञ किए हों।

शुङ्गों के बाद ग्रीक यवनों ने पूर्वोत्तर भारत को आक्रान्त किया और उसके बाद शक-पहलवों तथा कुषाणों ने अपनी संप्रभुता का विस्तार किया। यह समय उत्तर-प्रदेश के इतिहास में अन्धकार का युग कहा गया है, लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इन साम्राज्यों के मध्य के अन्तरिम कालों में अयोध्या, काशी, कौशांबी, अहिच्छत्र, शूरसेन (मथुरा) आदि के क्षेत्रों में स्थानीय राज्य थे, जिनकी जानकारी सिक्कों के माध्यम से होती है। उसके बाद कुषाण राजाओं ने अपनी एक राजधानी सम्भवतः मथुरा में भी स्थापित की थी, लेकिन कनिष्क की मृत्यु के कुछ ही दिनों के उपरान्त कौशाम्बी के मघों ने प्रयाग और उसके दक्षिण के क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके कुषाणों को भगा दिया। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ

---

* प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी-५।

में गुप्तों का उदय हुआ और एक बार पुनः पूर्वी उत्तर-प्रदेश उत्तर-भारत की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। प्रारम्भिक गुप्त सम्राटों के अभिलेखों तथा सिक्कों के निधानों से इस बात के संकेत मिलते हैं कि गुप्तों का मूल स्थान पूर्वी उत्तर-प्रदेश में ही कहीं था। डॉ० श्रीराम गोयल इलाहाबाद को इनका मूल स्थान मानते हैं क्योंकि गुप्तों के प्रथम सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-प्रशस्ति के लिए प्रयाग को ही चुना। लेकिन जिस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त ने अपनी प्रशस्ति अंकित करवायी, वह उसके द्वारा स्थापित नहीं की गयी थी। वह तो अशोक का एक स्तम्भ है जिसपर उसने इस प्रशस्ति को अंकित करने का लाभ उठाया। हमारा ऐसा विचार है कि गुप्तों का मूल स्थान गाजीपुर जिले के अन्तर्गत भीतरी नामक स्थान रहा होगा और इसका एक मुख्य प्रमाण यह है कि स्कन्दगुप्त अपने पिता कुमारगुप्त के श्राद्ध के लिए इस स्थान पर आता है। यह उसके भीतरी स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है। भीतरी जैसे छोटे स्थान को, जो एक छोटी सी नदी के किनारे पर अवस्थित है, कुमारगुप्त के श्राद्ध के लिए चुनना सम्भवतः इसी बात की ओर संकेत करता है कि भीतरी गुप्तों का उस समय से गृह-प्रदेश था जब वे सामान्य सामन्त के रूप में रह रहे थे तथा चीनी बौद्ध भिक्षुओं के लिए समुद्रगुप्त के पूर्वज श्रीगुप्त द्वारा दिये गये कुछ ग्रामों का दान भी इसी क्षेत्र से दिया गया था। समुद्रगुप्त ने अपने प्रारम्भिक अभियानों को यहीं से प्रारम्भ किया और शीघ्र ही कोसल और काशी को जीतकर सम्पूर्ण उत्तर-भारत के राजाओं को परास्त करके दक्षिण की विजय पर निकल गया। समुद्रगुप्त का तथाकथित, गया से प्राप्त, उसके शासन के नवें वर्ष में उत्कीर्ण, जाली ताम्रपत्र अयोध्या के जयस्कन्धावार से लिखवाया गया था। पाटलिपुत्र गुप्तों की राजधानी बाद में बनी। कुछ अन्य स्रोतों में गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त की राजधानी अयोध्या कही गयी है। गुप्तों के बाद मौखरि नरेशों ने उत्तर-प्रदेश के क्षेत्र को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया और कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनाया। सम्भवतः अयोध्या अथवा साकेत भी उनकी एक राजधानी रही होगी। लेकिन कान्यकुब्ज उत्तर-प्रदेश के मध्य में पड़ने के कारण और मौखरियों के प्रबल राजनीतिक शक्ति के कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। हर्षवर्धन भी अपनी पूर्व राजधानी स्थाणीश्वर को छोड़कर कन्नौज को अपने शासन का केन्द्र बनाने के लिए बाध्य हुआ, क्योंकि यह उसकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप पड़ता था। हर्ष के बाद पालों और प्रतिहारों ने भी कन्नौज के ऊपर अपनी सत्ता स्थापित करने का संघर्ष चलाया, जिसमें प्रतिहार विजयी रहे। सम्भवतः कन्नौंज का शासक उत्तर-भारत के सम्राट के रूप में माना जाता था। प्रतिहारों के बाद गाहड़वालों का उदय हुआ जो अपने को काशी, कोशल और कान्यकुब्ज का स्वामी कहने में गर्व अनुभव करते थे। उनकी एक राजधानी काशी और दूसरी कन्नौज थी। कन्नौज का महत्त्व अभी तक वैसा ही बना रहा। जो स्थान मौर्यों और गुप्तों के समय में पाटलिपुत्र को प्राप्त था, वही स्थान कन्नौज को मौखरी काल से गाहड़वाल काल तक प्राप्त था। दक्षिण भारत के प्राचीन चोल साम्राज्य की राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम् में कुलोत्तुंग के अभिलेख के समीप एक गाहड़वाल लेख प्राप्त होता है, जिसमें चन्द्रदेव के काल तक की गाहड़वाल वंशावलि दी हुई है। यद्यपि इससे यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि गाहड़वालों ने सुदूर दक्षिण के इस क्षेत्र पर कभी आधिपत्य जमाया था, किन्तु इससे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि गाहड़वाल राजाओं के चोल राजाओं से मधुर सम्बन्ध थे और सम्भवतः इसी नाते किसी गाहड़वाल राजकुमार ने उस क्षेत्र की यात्रा की।

उत्तर-प्रदेश के इतिहास का यह सर्वेक्षण उसके ऐतिहासिक सामग्री के विवेचन के लिए एक पृष्ठभूमि के रूप किया गया है, जिससे इस सामग्री की प्रकृति भली-भांति समझी जा सके।

(२)

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों की भांति ही उत्तर-प्रदेश के इतिहास के स्रोतों को भी सुविधा के लिए दो मुख्य भागों से बाँट सकते हैं, प्रथम का साहित्यिक स्रोत है और दूसरे को पुरातात्विक स्रोत कह सकते हैं।

साहित्यिक स्रोतों का जहाँ तक सम्बन्ध है, कोई भी ऐसी प्राचीन पुस्तक नहीं है, जिसे सीधे-साधे तौर पर इतिहास का ग्रन्थ कहा जा सके, लेकिन अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनसे ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की जा सकती है।

इसी बात को लेकर अनेक पाश्चात्य इतिहासकारों ने यह आरोप लगाया है कि प्राचीन भारतीयों को इतिहास लेखन की कला का ज्ञान नहीं था । उन्हें जब भी अपने पूर्व के इतिहास के विषय में लिखना होता था, वे काल-क्रम की अवहेलना करते थे । लेकिन यह आलोचना सही नहीं है तथा तथ्यों से परे है । इस प्रकार की आलोचनाओं के करने वाले प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्राचीन भारत में संसार के अन्य संस्कृतियों की भाँति ही इतिहास लेखन के सम्बन्ध में अपनी पृथक धारणा थो । अभी योरोप में ही गत दो शताब्दियों में इतिहास की अवधारणा में कम से कम तीन बार परिवर्तन हुए हैं । फिर भारतीय इतिहासकारों को अपनी विशिष्ट अवधारणा के लिए आलोचना का केन्द्र क्यों बनाया जाता है । प्राचीन भारतीय मनीषियों के लिए इतिहास काल-क्रम के अनुसार घटनाओं का संकलन नहीं था, बल्कि उनके लिए इतिहास पूर्व घटनाओं का ऐसा संकलन था जिनके माध्यम से राजाओं को, तथा सामान्य लोगों को, धर्म की शिक्षा दी जाती थी । वास्तव में भारतीय अपनी इतिहास सम्बन्धी अवधारणा को इस प्रकार व्यक्त करता है :

धर्मार्थ काम मोक्षाणामुपदेश समन्वितम् ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तं इतिहास प्रचक्षते ।।

अर्थात् कथा से युक्त उस पूर्व घटना को इतिहास कहा जाता है जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के प्रदान करने वाले उपदेश से युक्त हों । वास्तव में इतिहास कथाओं का श्रवण प्राचीन भारतीय राजाओं के दैनिदिन कार्यक्रमों में सम्मिलित था । इसमें किसी प्रकार के कालक्रम के सटीकता पर जोर नहीं दिया गया है । सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य इसी अर्थ में इतिहास ग्रंथ माना जाता है, लेकिन गुप्तकाल में पुराणों के संकलन और संपादन का जब प्रयास किया गया तो उसमें कालक्रम को समन्वित करने का प्रयास भी किया गया । लेकिन इस समय तक काफी देर हो चुकी थी और पुराणकार अथवा संकलनकर्ता अपने समय से लगभग एक सहस्र वर्षों तक के कालक्रम को तो ठीक से दे सके, और उसके पहले की घटनाओं, राजवंशों और राजाओं के विषय में कल्पना अधिक प्रभावशाली होती गयी । इसके पूर्व की घटनाएँ त्रुटि पूर्ण ढंग से एक दूसरे से उलझी हुई है तथा इसी कारण वे इतिहास की अपेक्षा मिथक बनकर रह गयी हैं । कतिपय आधुनिक इतिहासकारों ने इसे परम्परागत इतिहास माना है ।

वास्तव में आर्य एवं द्रविड़ सभ्यताओं की परिकल्पना भारतीय इतिहास थोपा गया एक बहुत बड़ा झूठ है जिसका निराकरण होना चाहिए । प्राचीन उत्तर-प्रदेश का परम्परागत इतिहास मनु से प्रारम्भ होता है, जो वैदिक एवं उत्तर-वैदिक साहित्य, महाकाव्यों एवं पुराणों में सुरक्षित है । भारत का यह प्राचीन साहित्य कहीं भी यह नहीं बताता कि 'आर्य' भारत के बाहर के किसी स्थान से आये थे । जब से इतिहास का पर्दा मंच पर उठता है, हम देखते हैं कि उत्तर भारत के मैदानों में 'आर्य' अपने सामान्य जीवन में व्यस्त हैं । यह समूचा क्षेत्र मध्यदेश कहलाता था । वैदिक साहित्य में काशी का उल्लेख मिलता है । महाकाव्यों में, रामायण में, कोशल, काशी तथा अन्य कई स्थानों के उल्लेख मिलते हैं जो उत्तर-प्रदेश के हैं । वास्तव में रामायण की कथा के नायक कोशल अथवा अयोध्या के थे और उनके वंश का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन रामायण में आता है । महाभारत में भी कोशल, काशी, अयोध्या, कौशांबी, प्रयाग, प्रतिष्ठान इत्यादि नाम आते हैं । वनपर्व में अयोध्या तथा प्रयाग, उद्योगपर्व तथा भीष्मवर्ष में काशी, सभापर्व में अयोध्या तथा काशी के राजाओं के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं ।

पौराणिक साहित्य तथा महाकाव्यों से जो प्रारम्भिक इतिहास पुनर्निर्मित किया गया है, उसके अनुसार वैवस्वत मनु महाप्रलय के बाद सबसे पहले राजा थे, जिनका काल ३१०२ ई० पू० कहा गया है । मनु के नौ पुत्र थे । सबसे बड़े पुत्र 'इल' दोहरे व्यक्तित्व के थे, जो नारी बनकर 'इला' के नाम से प्रसिद्ध हुए । मनु के ९ पुत्रों के नामों के सम्बन्ध में कई पाठ-भेद मिलते हैं लेकिन यह निश्चित है कि उन्होंने पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा बिहार सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत को अपने अधिकार क्षेत्र में कर लिया था । उनके पुत्र इतिहास प्रसिद्ध सूर्यवंश की स्थापना से लिए उत्तरदायी हैं जिनमें चार अधिक प्रसिद्ध हुए । इक्ष्वाकु की राजधानी अयोध्या थी, जो आगे चलकर इस वंश का सबसे बड़ा केन्द्र बना । इला का विवाह बुध से हुआ जिससे पुरुरवा की उत्पत्ति हुई जो ऐल अथवा चान्द्रवंश का संस्थापक माना जाता है । इनकी राजधानी प्रतिष्ठान,

वर्तमान प्रयाग के समीप थी। इस प्रकार सूर्य एवं चन्द्र, क्षत्रियों के दोनों वंशों, का उद्भव और विकास उत्तर-प्रदेश में ही हुआ। इस प्रकार यदि हम इतिहास के इन स्रोतों को उत्तर-प्रदेश के इतिहास के रूप में स्वीकार करें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्राचीन काल से परीक्षित के राज्यारोहण तक का इतिहास का स्रोत मुख्यत: महाभारत है। महाभारत युद्ध के बाद का परम्परागत इतिहास विभिन्न पुराणों में अलग-अलग ढंग से वर्णित है। वास्तव में पुराणों के ये उल्लेख सूत परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। सूतों का यह कर्त्तव्य था कि वे देवताओं, ऋषियों, श्रीमन्त राजाओं, तथा महान् व्यक्तियों के परम्पराओं और वंशानुचरितों को सुरक्षित रखें। पुराणों की परम्परा का आधार सम्भवतः यही सुत परम्परा थी। पुराणों में गुप्तों के पूर्व तक के राजाओं का तो इतिहास है, लेकिन उसके बाद के राजाओं और राजवंशों का कोई उल्लेख नहीं है। इसके बाद का लिखित इतिहास पुराणों में नहीं मिलता। बाद के इतिहास के लिए आभिलेखिक एवं मुद्राशास्त्रीय तथा अन्य प्रकार के पुरातात्विक साक्ष्य सौभाग्य से उपलब्ध हैं। गुप्तोत्तर काल के साहित्यिक स्रोतों में हर्षचरित का उल्लेख करना अप्रासांगिक नहीं होगा। इसमें हर्ष की समसामयिक कथा का वास्तविक उल्लेख हुआ है तथा अनेक समकालीन और पूर्वकालीन राजाओं के विषय में भी प्रसंगत: उल्लेख हुए हैं जिनकी पुष्टि अन्य स्रोतों से हो जाती है। हर्षचरित के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि राज्यश्री और हर्ष के भेंट के बाद बाणभट्ट की कथा सहसा रुक जाती है। एक इतिहास के विद्यार्थी के लिए सम्भव है यह विचित्र बात लगती हो, लेकिन साहित्यिक रचना की दृष्टि से बाणभट्ट का उद्देश्य राज्यश्री और हर्ष के मिलन से ही पूर्ण हो जाता है और इस प्रकार काव्यग्रन्थ को आगे बढ़ाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वास्तव में बाणभट्ट हर्ष का इतिहास और उसकी सामरिक उपलब्धियों के बारे में नहीं लिख रहे थे। 'गौडवहो' नामक पुस्तक वाक्पति की रचना है, जिसमें कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजयों का वर्णन है तथा मगध (गौड़) के राजा के बध की कथा दी गयी है। यशोवर्मन सम्भवतः मौखरि शासक था, लेकिन इसके विषय में अन्य स्रोतों से कोई जानकरी नहीं मिलती। गाहड़वाल युग के सम्बन्ध में भी कुछ साहित्यिक ग्रंथ मिलते हैं लेकिन उनमें राजनैतिक इतिहास बहुत कम है।

(३)

पुरातात्विक साक्ष्यों को चार वर्गों में व्यवस्थित किया जा सकता है। ये हैं—(१) अभिलेख (२) सिक्के (३) स्मारक तथा (४) प्राचीन स्थलों के उत्खनन और उनसे प्राप्त सामग्रियाँ। पुरातात्विक साक्ष्यों की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ये ऐसे साक्ष्य हैं, जिनमें किसी प्रकार का प्रक्षेप सामान्यतया सम्भव नहीं है। ये साक्ष्य ज्यों के त्यों हमारे सामने पहुँचते हैं और समस्या कभी-कभी इनको समझने तथा व्याख्या करने की ही रह जाती है।

अभिलेख सबसे महत्वपूर्ण साक्ष्य माने जाते हैं और इनके द्वारा हमें अनेक ऐसे राजवंशों और राजाओं के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है जिनके विषय में किसी अन्य स्रोत से ज्ञान नहीं प्राप्त होता। हमारे देश में पाषाण जैसे स्थायी सामग्रियों पर अभिलेख उत्कीर्ण करवाने की परम्परा प्रारम्भ करने का श्रेय अशोक को दिया जाता है। अशोक ने समस्त देश में शिलाओं और पाषाण-खण्डों पर अपने लेख लिखवाये। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में पत्थर के स्तम्भों का भी निर्माण करवाया। अशोक का साम्राज्य अफगानिस्तान से लेकर उड़ीसा तक तथा उत्तर में देहरादून से लेकर कर्नाटक तक विस्तृत था। संभवतः नैपाल भी उसमें सम्मिलित था। उत्तर-प्रदेश में देहरादून में कालसी नामक स्थान पर अशोक के शिलालेख मिले हैं। सारनाथ तथा कौशांबी और प्रयाग में उसके स्तम्भ प्राप्त हुए हैं। मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद शुंगों ने कुछ समय तक इस क्षेत्र पर शासन किया। लेकिन पश्चिमोत्तर भारत से विदेशी राजवंशों ने स्थानीय राजाओं को दबाकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। मथुरा के शक-क्षत्रपों और कुषाण वंशीय कनिष्क, हुविष्क आदि के बहुत से अभिलेख उत्तर-प्रदेश, विशेषकर, मथुरा के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। पूर्वी उत्तर-प्रदेश में सारनाथ तथा श्रावस्ती से भी कनिष्क के अभिलेख मिलते हैं। कुषाणों के समय तक अभिलेखों के लिखवाने की परम्परा अधिक लोकप्रिय हो गयी थी और समान्यतया जनसाधारण भी लोक कल्याण के कार्यों को करने के बाद अभिलेख उत्कीर्ण करवाने में रुचि लेते थे।

कुषाणों के प्रारम्भ के पूर्व और उनके पतन के बाद स्थानीय राजवंशों ने भी अपने अभिलेख छोड़े। मथुरा कौशांबी, अयोध्या, श्रावस्ती, अहिच्छत्र आदि उत्तर-प्रदेश में ऐसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं जहाँ से गुप्तों के उदय के पूर्व के अभिलेख काफी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं तथा जिनसे बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। गुप्तकाल में तो अभिलेख इतिहास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गये हैं। प्रयाग के दुर्ग में स्थिति अशोक के एक स्तम्भ पर समुद्रगुप्त ने अपनी विजयों के उपरान्त एक अभिलेख उत्कीर्ण करवाया था जिसमें उसके व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ सैनिक उपलब्धियों की विस्तार के साथ चर्चा की गई है। उसके चिरस्मरणीय शासन काल का यह सबसे महत्त्वपूर्ण लेख है। गुप्तकालीन अभिलेखों और प्रभूत मात्रा में अत्यन्त कलात्मक स्वर्ण मुद्राओं के कारण ही गुप्तों का काल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के रूप में जाना जाता है। आरम्भिक अभिलेखों तथा सिक्कों के निधानों के आधार पर श्रीराम गोयल जैसे विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि गुप्तों का प्रारम्भिक शासन क्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश ही था। लिपिशास्त्रीय साक्ष्य भी इस सुझाव का समर्थन करते हैं। अहमद हसन दानी के अनुसार गुप्तकाल में कौशांबी की लेखन शैली समस्त उत्तरभारत में फैल गयी थी।

कन्नोज के मौखरियों ने भी अपने अनेक अभिलेख लिखवाये और हर्षवर्द्धन भी इसमें पीछे नहीं रहे। वाराणसी के गाहड़वाल शासकों ने बहुत बड़ी संख्या में ताम्रपत्र जारी करवाये, जिससे इस प्रदेश के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त कल्चुरि, चन्द्रात्रेय (चन्देल) आदि राजवंशों के शासकों के भी तथा अनेक पालवंशीय राजाओं के अभिलेख उत्तर-प्रदेश से प्राप्त हुए हैं।

अभिलेखीय सामग्री का महत्व विशेषरूप से इसलिए है कि ये पत्थर और धातु जैसे स्थायी और टिकाऊ सामग्रियों पर उत्कीर्ण करवाये जाते हैं। भोजपत्रों ताड़पत्रों आदि पर लिखी गयी सामग्रियों की भाँति इनकी बार-बार प्रतिलिपि करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके कारण इनमें प्रक्षेपों तथा पाठभेदों की बहुत कम गुञ्जाइश होती है। समसामयिक लेख होने के कारण इनकी उपयोगिता तथा आधिकारिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। प्रायः ये अभिलेख किसी संवत् में तिथ्यांकित होते हैं, जिसके कारण तथा, इनके अभाव में लिपिशास्त्रीय आधार पर, इनकी तिथि और समय का निर्धारण करना कठिन काम नहीं होता। कभी-कभी जाली अभिलेख भी लिखवाये गये हैं जिन्हें विशेषज्ञों ने पहचान लिया है। लेकिन इस प्रकार के अभिलेखों की जालसाजियाँ प्रायः प्राचीन काल की ही होती हैं। उदाहरण के लिए, समुद्रगुप्त का गया का ताम्रपत्र अभिलेख लिपिशास्त्रीय आधार पर जाली माना जाता है, क्योंकि इसकी लिपि आठवीं शताब्दी ई० की है। बहुत सम्भव है कि मूल ताम्रपत्र अभिलेख किसी कारणवश नष्ट हो गया था और उसके स्वामियों ने बाद में उसकी प्रतिलिपि तैयार करवायी। गाहड़वाल काल में तो एक अभिलेख के जाली सिद्ध होने पर उसे रद्द कर दिये जाने का उल्लेख मिलता है।

ये अभिलेख सरकारी कार्यालयों द्वारा भूमिदान इत्यादि के अवसर पर लिखवाये जाते थे और इनमें प्रायः राजा के वंश का और उनकी उपलब्धियों का वर्णन होता था। प्रारम्भ में तो वास्तविक उपलब्धि तथा राजाओं के पूर्वजों के नाम दिये जाते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया राजा लोग अपने वंश को प्राचीन पौराणिक महापुरुषों से जोड़ने में गर्व का अनुभव करने लगे। इसके अतिरिक्त राजाओं की उपाधियों में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हुए। बाद के अपेक्षाकृत छोटे राजाओं ने भी लम्बी-लम्बी उपाधियों से अपने को विभूषित करना प्रारम्भ किया। ये अभिलेख राजा के द्वारा दिये जाने वाले किसी दान आदि के अवसर पर लिखवाये जाते थे, और, ये इतिहास के दृष्टिकोण से नहीं लिखे जाते थे, वरन् इनमें राजा और उसके वंश की प्रशंसा की दृष्टि ही रचनाकार के मानस में होती थी। इन कारण इनका उपयोग इतिहास के पुनर्निर्माण में इसी दृष्टिकोण से करना चाहिए। कभी-कभी राजाओं के विजय क्षेत्र के उल्लेख में सुदूरवर्ती क्षेत्रों का भी उल्लेख होता है, जहाँ उनका पहुँच पाना असम्भव सा लगता है। इन प्रशस्तियों में अतिशयोक्तियाँ भी विशेष रूप से दिखाई पड़ती है, जिनके उपयोग में सावधानी बरतनी पड़ती है। प्रायः प्रशस्तिकार अपनी रचना में अलंकारों पर इतना अधिक ध्यान देता है कि

वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य दब जाते हैं। कभी-कभी उसका यह प्रयास भी रहता था कि इसके दो अर्थ निकलें। इन सब कारणों से अभिलेखीय साक्ष्यों के उपयोग में इतिहासकार को विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है।

सिक्के इतिहास के पुनर्निमाण के लिए दूसरे सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं। भारतवर्ष में सिक्कों के निर्माण की दो विशिष्ट धाराएँ थीं। प्रथम धारा उन प्राचीनतम् सिक्कों की है जिन्हें आहतमुद्राएँ अथवा पंच-मार्कड सिक्के कहा जाता है। इसके निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त सरल थी। धातु को चद्दरें पीटकर उनके पतले-पतले पट्टे काटे जाते थे, फिर उन्हें अन्दाज से उपयुक्त भार-मान के आधार पर छोटे-छोटे टुकड़ो में काट लिया जाता था। और पुनः तौलकर अतिरिक्त भाग को फिर कोने से काटकर सही भार का बना लेते थे। इसके बाद उनपर चिह्न आहत कर लिए जाते थे। प्रारम्भिक सिक्कों पर एक, दो, तीन अथवा चार चिह्न आहत किये जाते थे। इनके लिए अलग-अलग चिह्न वाली बिम्ब-टंकणियाँ होती थीं और प्रत्येक चिह्न के अलग अर्थ होते थे। आज उनके अर्थों के विषय में हम केवल अनुमान मात्र लगा सकते हैं, कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। पाँच चिह्नों से युक्त आहतसिक्कों को विशेष महत्त्व इसलिए दिया जाता है कि वे केवल उत्तर-प्रदेश की नहीं वरन् समस्त देश में हजारों की संख्या में मिले हैं। ऐसा समझा जाता है कि मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत इन पाँच चिह्नो के सिक्कों का निर्माण करवाया गया था और इसी कारण सम्पूर्ण देश में वे मिलते हैं। प्राचीनतम आहतसिक्के सम्भवतः उत्तर-प्रदेश से ही प्रचलित हुए थे। इसका प्रमाण विद्वानों को मिलता जा रहा है। कलकत्ता के डा० अमरेन्द्रनाथ लाहिरी काशी के आहतसिक्कों पर जो अध्ययन कर रहे हैं, उससे यह बात उमड़कर आ रही है कि आहतसिक्कों का एक अत्यन्त प्रचीन वर्ग काशी में ही उद्भूत हुआ था। अबतक उत्तर-प्रदेश में सैंतीस विभिन्न स्थानों पर आहत सिक्कों के निधान प्राप्त हुए हैं।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद से बाल्हीक (बैक्ट्रिया) के ग्रीकों ने पश्चिमोत्तर भारत पर अपने आक्रमण प्रारम्भ किए। वे अपने साथ सिक्कों के प्रचलन की एक परम्परा भी लाये। इधर उत्तर-भारत में उनके राज्य स्थापित करने के पूर्व ही स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए थे। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा का एक माध्यम सिक्कों को भी बनाया। इसमें जहाँ एक ओर भारतीय परम्परा के आहत सिक्कों से उनको प्रेरणा मिली वहीं इण्डोग्रीक शासकों के सम्पर्क से भी वे प्रभावित हुए। उन्होंने सिक्कों पर अपने लेख लिखवाये। उनके जनपदों के नाम, जातियों के नाम तथा राजाओं के नाम इन सिक्कों पर मिलते हैं। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि लेखयुक्त सिक्के बैक्ट्रिया के यवन राजाओं के सिक्कों से प्रभावित हैं, किन्तु डा० बेला लाहिरी ने इस मत का खण्डन किया है और उन्होंने बताया है कि बैक्ट्रिया के राजाओं अगाथाक्लीस और पेन्टालियन ने भारतीय लेख युक्त सिक्कों के लेखों का अनुकरण किया है। उतर-प्रदेश में यौधेयों, आर्जुनायनों, कुणिन्दों आदि के सिक्के प्राप्त हुए हैं।

कौशांबी, अयोध्या, मथुरा, पांचाल आदि के स्थानीय सिक्के ई० पू० के दूसरी शताब्दी से ईसा की पहली शताब्दी के बीच के कालखण्ड के लिए महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन सिक्को को कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। सर्वप्रथम लेख विहीन ढले हुए सिक्के प्रचलित किए गये माने जाते हैं। इन पर एक ओर तथा कभी-कभी दोनों ओर वृषभ, गजलक्ष्मी, गज, वेदिका में वृक्ष, स्वास्तिक, उज्जैन चिह्न आदि चिह्न प्राप्त होते हैं। द्वितीय वर्ग में वे सिक्के आते हैं जो ढले नहीं हैं वरन् उन पर सांचे से चिह्नों को ठोंककर बनाया जाता था। प्रायः ऐसा माना जाता है कि सांचे से ठोंककर बनाए गये सिक्के (Die struck) बनाने की प्रविधि भारतीयों ने बैक्ट्रिया के ग्रीक आक्रमणकारियों से सीखा। लेकिन यह मत भी स्वीकार्य नहीं है, क्योकि ग्रीक सिक्कों के ढालने की प्रविधि अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत थी और भारतीय ढले हुए सिक्के पुरानी परम्परा के हैं। डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने यह मत व्यक्त किया था कि आहत सिक्कों पर विभिन्न प्रकार के चिह्नों को ठोंककर बनाने की प्रक्रिया का नैसर्गिक विकास इन सांचों में पीटकर बनाये गये सिक्कों के रूप में हुआ था। तीसरे वर्ग के सिक्के भी उसी प्रकार के हैं किन्तु अपनी बनावट तथा सामग्री की भिन्नता के कारण एक अलग वर्ग बनाते हैं।

लेख-विहीन सांचे में ढालकर बनाये गये सिक्के ई० पू० की द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ के माने जाते हैं। लेखयुक्त ढले हुए सिक्के तथा दूसरे वर्ग के सिक्के उसके बाद के हैं। कौशांबी से इस वर्ग के सिक्कों पर छब्बीस राजाओं के नाम प्राप्त हुए हैं जिनमें प्राचीनतम राजा **सुदेव** और **बृहस्पतिमित्र** दूसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध के माने जाते हैं तथा सबसे बाद के **राजमित्र** और **प्रजापतिमित्र** प्रथम शताब्दी ई० के मध्य के। तीसरे वर्ग के सिक्कों में **धनदेव, नव** तथा **मूलहस्त** के सिक्के आते हैं, जो दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माने जाते हैं। दूसरे और तीसरे वर्ग के सिक्कों में जो रिक्त काल खन्ड है उसे कुषाण राजाओं के प्रभुत्व का समय माना जा सकता है। इसके बाद कौशांबी में चौथे वर्ग के सिक्को, मघराजाओं के सिक्के आते हैं। इनमें **भीमसेन, भद्रमघ, शिवमघ, वैश्रवण, शतमघ, राजमघ** आदि आते हैं। मघों का उच्छेद सम्भवतः गुप्तों ने किया।

अयोध्या में भी इसी प्रकार जिन राजाओं के सिक्के मिलते हैं, उनमें **धनदेव, विशाखदेव, नरदत्त, अजवर्मन, आयुमित्र, कुमुदसेन, विजयामित्र** आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं। अयोध्या के राजाओं के सिक्के पश्चिमी बिहार तथा नैपाल के तिलौरकोट क्षेत्र से भी प्राप्त हुए हैं, जिससे इनके राज्य-विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। अयोध्या के सिक्कों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है; प्रथम वर्ग प्राचीनतम माना जाता है और ई० पू० की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखा जा सकता है। इन ढले हुए सिक्कों में पुष्प, स्वस्तिक तथा एक चिह्न जिनमें मत्स्य के ऊपर स्वस्तिक है—आदि चिह्न मिलते हैं। वर्ग दो के सिक्कों पर वृषभ तथा कभी-कभी गज की आकृति पुरोभाग पर दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त पांच या छः चिन्हों का समूह जैसे—स्वस्तिक, उज्जैनचिह्न तथा वेदिका में वृक्ष आदि भी मिलते हैं। इस वर्ग के सिक्के प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के तीसरे चरण तक रखे जा सकते हैं। तीसरे वर्ग के सिक्के गोलाकार हैं तथा सांचे से ठप्पे लगाकर बनाये गये हैं। ये बाद के किसी राजवंश के सिक्के हैं। इनमें पुरोभाग पर वृषभ के सामने दण्ड अथवा शूल तथा मुर्गा और ताड़वृक्ष पृष्ठ भाग पर मिलते हैं। ये दूसरी शताब्दी ई० के मध्य से लेकर चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ के हैं। कुषाण साम्राज्य के वैभव के दिनों में अन्य स्थानों की भांति ही यहाँ भी सिक्के बनने बन्द हो गये थे। सम्भवतः अयोध्या का राजवंश भी मध्यदेश के अन्य राजवंशों की भांति, या तो कुषाणों के अधीनस्थ कर लिया गया था अथवा नष्ट हो गया था। यह राजवंश सम्भवतः शुंगों की एक शाखा था। कुषाणों की शक्तिहीनता का लाभ उठाकर जो दूसरा राजवंश अयोध्या में उत्पन्न हुआ उसके सिक्के तीसरे वर्ग में आते हैं जिनके कुछ राजाओं में **कुमुदसेन, अजवर्मन, आयुमित्र, विजयमित्र** आदि आते हैं।

मथुरा उत्तर-प्रदेश का वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था जिसे अधिकतम् समय तक यवनों के प्रभाव के अन्तर्गत रहना पड़ा। **गार्गीसंहिता** के अनुसार, जिसका एक अंश **युगपुराण** है, **पुष्यमित्र** शुंग ने बैक्ट्रिया के ग्रीकों का आधिपत्य यहाँ से समाप्त किया, लेकिन शुंग भी यहाँ अधिक समय तक शासन नहीं कर सके। मुद्राशास्त्रीय साक्ष्यों के अनुसार इस क्षेत्र में कम से कम तेरह राजाओं के नाम मिलते हैं, जो या तो **मित्र** नामान्त हैं, अथवा **दत्त** नामान्त हैं। इनमें **गोमित्र** सबसे पहला राजा है जिसे ई० पू० की दूसरी शताब्दी के अंत का माना जाता है। इसके सिक्कों पर लक्ष्मी दाहिने हाथ में कमल लिए हुए दिखाई पड़ती पड़ती हैं तथा दोनों ओर कुछ अन्य चिह्न हैं। पृष्ठ भाग पर तीन हाथियों का समूह मिलता है। कुछ राजाओं के नाम जैसे—**गोमित्र, विष्णुमित्र** और **सूर्यमित्र** के नाम सिक्कों के अतिरिक्त अभिलेखों से भी मिलते हैं। **ब्रह्ममित्र** का भी एक अभिलेख अभी हाल ही में पढ़ा गया है। **दत्त** नामान्त वाले छः राजा प्रथम शताब्दी ई० पू० के मध्य से लेकर प्रथम शताब्दी ई० के प्रारम्भिक वर्षों तक शासन करते रहे। इनमें **पुरुषदत्त, रामदत्त, कामदत्त, शेषदत्त, उत्तमदत्त** और **भवदत्त** सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त **बलभूति** नामक एक राजा के सिक्के मिलते हैं, जिसे मुद्राशास्त्रीय गुणों के आधार पर **गोमित्र** से सम्बद्ध किया जा सकता है। एक अभिलेख में **धनभूति** का भी नाम मिलता है। अभी हाल ही में मथुरा से प्राप्त एक मोहर पर बलभूति का नाम पढ़ा गया है।

दत्त राजाओं के बाद मथुरा में शक-क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं, जिनमें **राजवुल, सोडाश, हगान, हगामस, शिव-**

घोष और शिवदत्त के सिक्के उल्लेखनीय हैं। इनको ईसा के प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में रखा जाता है। इसके बाद कुषाणराजा **बिम-कडफाइसिस** ने इनको समाप्त करके साम्राज्य विस्तार किया। कुषाणों के बाद नाग राजाओं ने इस क्षेत्र पर शासन किया, जिनको **समुद्रगुप्त** ने समाप्त करके गुप्त साम्राज्य को सुस्थिर किया।

पांचाल क्षेत्र, जिसकी राजधानी किसी समय अहिच्छत्र (बरेली जिले में रामनगर) थी, भी एक प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से सिक्कों के निरन्तर प्रमाण मिलते चले जा रहे हैं। पांचालों के सिक्कों पर कम से कम छब्बीस राजाओं के नाम मिलते हैं, जिनमें **अग्निमित्र**, **भूमिमित्र**, **इन्द्रमित्र**, **विष्णुमित्र**, **भद्रघोष**, **रुद्रघोष**, **जयगुप्त**, **रुद्रगुप्त**, **शिवनन्दी**, **श्री नन्दी**, **यशपाल**, **वसुसेन**, **युगसेन** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि ये सभी राजा एक ही वंश के थे अथवा विभिन्न राजवंशों के थे। इनके अतिरिक्त पांचाल से 'अच्यु' नामक एक राजा के भी सिक्के मिलते हैं, जिसमें पुरोभाग पर चौथी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में राजा का नाम तथा एक चक्र-चिह्न पृष्ठभाग पर मिलता है। ऐसा समझा जाता है कि यह 'अच्युत' नामक राजा रहा होगा, जिसको समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में गुप्तसाम्राज्य की स्थापना होती है और यह भारतीय इतिहास के लिए एक एक युगान्तरकारी घटना थी। इसके प्रथम शासक **समुद्रगुप्त** ने इस वंश के प्रभाव को सम्पूर्ण उत्तर-भारत में स्थापित किया। मुद्राशास्त्रीय दृष्टि से गुप्त सम्राटों ने जो प्रयोग किए वह विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व है। उन्होंने जहाँ एक ओर कुषाण सिक्कों की उन्नत तकनीकी निर्माण-प्रक्रिया तथा मुद्राशास्त्रीय प्रकारों को अपनाया वहीं दूसरी ओर मुद्राओं के पुरोभाग पर संस्कृत में काव्यमय छन्द लिखवाये, जो न तो गुप्तों के पूर्व ही मिलते हैं और न बाद में ही। इसके अतिरिक्त गुप्त सिक्के राजा को विभिन्न मुद्राओं में, कभी वीणा बजाते हुए, कभी यज्ञ करते हुए, कभी मृगया करते हुए—जिनमें सिंह, दरियाई घोड़ा आदि का शिकार करते हैं, कभी पक्षियों को दाना चुगाते हुए अथवा रानी के साथ आसन पर बैठे हुए दिखाया गया है। इस समय मुद्राओं के निर्माण में कलात्मकता और प्रविधि दोनों ही अपने उच्चतम शिखर पर मिलती हैं। संख्या के दृष्टि से भी गुप्त राजाओं के सिक्के, विशेष रूप से स्वर्ण सिक्के, सर्वाधिक प्रभावशाली हैं। इसके बाद मुद्राओं के निर्माण में ह्रास होता गया। मौखरियों, हर्ष, कल्चुरि, चन्देल, गाहड़वाल आदि राजाओं ने भी सिक्के चलवाये किन्तु वे संख्या और कलात्मकता, दोनो ही दृष्टियों से हीन कोटि के हैं।

(४)

उत्तर-भारत मुस्लिम आक्रमणकारियों के निरन्तर विध्वंस का क्षेत्र रहा है। इस कारण यहाँ पर प्राचीन भवनों के अवशेष इतनी बड़ी संख्या में नहीं रह गये, जितने दक्षिण भारत में हैं। कानपुर के समीप भीतरगाँव का ईंटों का एक मंदिर गुप्तकाल का माना जाता है। इसी प्रकार झांसी के समीप देवगढ़ में भी गुप्तकाल का एक मंदिर बचा रह गया है। कुछ अवशेष मथुरा में भी प्राचीन मंदिरों के हैं। काशी में दशवीं शताब्दी का गाहड़वाल युग का एक मंदिर पंचक्रोशी मार्ग पर स्थित कर्दमेश्वर नामक स्थान पर चमत्कारिक रूप से बचा रह गया है। इसके अतिरिक्त काशी तथा इस क्षेत्र में जितने भी मंदिर हैं वे दो-तीन शताब्दियों से अधिक पुराने नहीं हैं। लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस तत्परता के साथ मुस्लिम आक्रमणकारी मंदिरों को गिराते थे, अथवा मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर लेते थे, उसी तत्परता के साथ दूसरे मंदिर उठ खड़े होते थे। इसी का परिणाम है कि उत्तर-भारत में प्रचलित नागरशैली के मंदिरों की परम्परा बनी हुई है।

(५)

पूरा उत्तर-प्रदेश प्राचीन अवशेषों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। कोई भी जिला और तहसील क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थल न हो। जो क्षेत्र पुरातत्ववेत्ता के फावड़ों के नीचे आ चुके हैं उनकी संख्या इन प्राचीन स्थलों की तुलना में मुश्किल से एक या दो प्रतिशत होगी। इस दिशा में उनको बहुत कार्य करना बाकी है। अब पुरातात्विक खुदाई एक वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण कर चुकी है और अनेक विश्वविद्यालय तथा 'भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग' तथा 'प्रदेशीय पुरातत्व संगठन' इस दिशा में सक्रिय कार्य कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश में अहिच्छत्र, मथुरा, काम्पिल्य, कौशांबी,

काशी, अयोध्या आदि प्रमुख स्थलों में खुदाई के कार्य हो चुके हैं और इनमें से अनेक के प्रतिवेदन भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनको देखने से एक बात जो विशेषरूप से खटकती है उसका यहां उल्लेख कर देना आवश्यक लगता है। अयोध्या, काशी, प्रयाग आदि ऐसे स्थल हैं जो प्राचीन परम्परागत इतिहास के स्थलों से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए ये स्थल महाभारत और रामायण दोनों के घटनाओं से सम्बद्ध माने जाते हैं, लेकिन पुरातात्विक खुदाईयां इनकी प्राचीनता को उतनी दूर तक नहीं ले जा पातीं। यही नहीं, इनमें काशी (सारनाथ) और कोशल (श्रावस्ती) बुद्ध के जीवन-काल की घटनाओं से जुड़े हुए हैं, जिनको ई० पू० की छठी शताब्दी में रखा जाता है। लेकिन विडम्बना की बात यह है कि केवल चौथा-तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के ही सुव्यवस्थित अवशेष इन क्षेत्रों से गिनाये जाते हैं। ईसा पूर्व की छठी, पांचवी शताब्दियों तक जाते-जाते अवशेषों की संख्या कम हो जाती है और पुरातत्ववेत्ता इन्हें **कृष्णमृदमाण्ड संस्कृति** (N. B. P.) तथा **चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति** (P. G. W.) आदि नाम लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं; और ई० पू० की दशवीं से आठवीं शताब्दियों तक जाते-जाते तो मानव अस्तित्व के अवशेषों की संख्या बहुत ही विरल रह जाती है। यहां पर यह प्रश्न उठता है कि क्या बुद्ध के समय से केवल दो-चार शताब्दियों पहले से ही हमारे कार्य-कलाप इस क्षेत्र में प्रारम्भ हुए थे? यदि नहीं तो क्या हमारे कालक्रम निर्धारण में कहीं कोई त्रुटि है? पुरातत्ववेत्ताओं को इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ना होगा। क्योंकि बुद्ध के जीवनकाल से सम्बद्ध पाटलिपुत्र, गया, वैशाली, राजगृह आदि स्थानों की भी खुदाईयां बिहार में हो चुकी हैं और वहां भी यही कालक्रम मिलता।

अन्त में एक अन्य विषय पर भी यहाँ पर उपस्थित विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। वह है,—तथाकथित आदिमानव के उत्तर-प्रदेश में उपस्थिति के प्रमाणों को वैज्ञानिक ढंग से अन्वेषण करने की आवश्यकता। मिर्जापुर के क्षेत्र में अनेक अवशेष अभी भी गुहाओं गुहा-चित्रों, वृहत्पाषाण संस्कृतियों आदि के रूप में बिखरे पड़े हैं जिनकी ओर अभी हम समुचित ध्यान नहीं दे सके हैं। क्या इन संस्कृतियों का वैज्ञानिक अन्वेषण करके आदि मानवों का अध्ययन किया जा सकता है? और क्या उनसे अपनी संस्कृति के सम्बन्धों को समुचित रूप में खोजा जा सकता है? यह भी एक प्रश्न है।

भारतीय इतिहास संकलन समिति ने इस दृष्टि से जो कार्य करने का दायित्व अपने पर लिया है, वह कितना विराट है और उसमें सामान्य जन के सहयोग की कितनी आवश्यकता है, इसका कुछ मूल्यांकन ऊपर किये गये सर्वेक्षण से हो सकता है।

●

AŚOKA AND BUDDHA IMAGE[1]

K. CHAUDHARY*

There are in all two archaeological evidences, so far known to us, which associate Aśoka with the Buddha image. One comes from India and the other is from Gobi Desert.

In 1908 Marshall and Sten Konow excavated at Sarnath. They, in the north of Dhamekh stupa 'over the remnants of the old monastries of the Gupta period', found an inscription.[2] This inscription in Sanskrit language has 26 verses. It records construction of a *vihāra* by Kumāradevī, one of the queens of the Gahaḍavāla king Govinda Chandra of Kanauj,[3] who ruled during the 12th cen. A. C.

This inscription was first published by Sten Konow. It has been included in recent works also.[4] Yet leaving aside the work done by Sten Konow nothing has been added.

Verses 21-23 of this inscription are highly significant.[5] It is strange that Sten Konow held that "the wording of verse 21-23 in which her gift is mentioned is not quite clear''.[1] The three verses in question contain the following information—

---

* Post-Graduate Deptt. of Ancient History, Archaeology & Culture, T. D. Collage, Jaunpur.

[1] This stands ninth in our Buddhistic studies. Details about our studies are as follows : (1) Menander Dikaios-Founder of Mahāyāna Buddhism, *QJMS*, Vol. LXXI, Nos. 3 & 4 (1980), pp. 150-163. (2) Tradition and Buddha Image, being published in *Prajñāloka*, Nagarjuna Buddhist Foundation, Gorakhpur. (3) Prasenajit and First Buddha Image : Read at Fifth World Sanskrit Conference Oct. 1981 (Varanasi), being published in *JBRS*. (4) Contribution of the Buddhist political thought to Modern World : Read at the 7th International Buddhist Conference, Bodh-Gaya, December 1981 and being published in their Proceedings. (5) Aśoka-Konakamana Buddha and Buddhism : Read at Indian History Congress, Bodh-Gaya, December, 1981. (6) Aśoka-Buddha Konakamana and Sākyamuni : being published in L. N. Mishra Commemoration Volume (Bihar Research Society, Patna). (7) Aśoka-Local Roots and Buddhism : being published by the Internal Buddhist Society, Vaishali in their Souvenir. (8) On Buddha Portrait and Image Tradition.

[2] Sten Konow, Sarnath Inscription of Kumaradevi, *Ep. Ind.* Vol. IX, p. 319.

[3] Sten Konow, *op. cit.*, p. 320.

[4] R. B. Pandey, *Historical and Literary Inscriptions*, Varanasi, 1962, pp. 179-83.

[5] वीहारो नवखण्डमण्डलमहीहारः कृतोयन्तया-
तारिण्या वसुधारया ननु वपुर्विभ्राणयालंकृतः ।
यं दृष्ट्वा प्रविचित्रशिल्परचनाचातुर्य्यसीमाश्रयं
गीर्वाणैः सुदृशश्च विस्मयमगाद्द्राग्विश्वकर्मापि सा ॥ (21)
श्रीधर्मचक्रजिनशासनसन्निवद्धं-
सा जम्बुकी सकलपत्तलिवाग्रभूता ।
तत्ताम्रशासनवर (रं) प्रविधाय तस्यै-
दत्वा तया शशिरवीभुवि यावदास्ताम् ॥ (22)

Verse 21. Construction of *vihāra*.

Verse 22. Records that a permanent endowment, for Dharmachakra Jina was got prepared by Jambukī and it was recorded in a copper-plate grant. Jambnkī got it done on behalf of Kumāradevī and she was promoted to the post of foremost of all *paṭṭalikās*.[2] It appears that Jambuki's this work was very much appreciated by the Queen Kumāradevī.

Verse 23. Records two things. First Dharmachakra Jina was restored in accordance with the way in which He existed in the days of Dharmāśoka.''[3] Seeondly the *vihāra* was built for *sthavira*.

Sten Konow, so far the verse 21 is concerned accepts that a vihāra was constructed. Yet he again observes that the 'following verses (i. e. verses no. 22 and 23) are not quite clear'.[4] He has plainly accepted that he got a suggestion from Rai Bahadur V. Venkayya in this context which he thought 'very plausible'. He opined 'Jambukī drew up a copper-plate, in which she represented to Kumāradevī that the Dharmachakra Jina originally set up by Dharmāśoka required to be repaired or set up again'.[5]

But it is clear from the Sanskrit text that the copper-plate recorded some gift of permanent nature to the Jina. Thus it is clear that Sten Konow's interpretation is not free from error. While the copper-plate was for the permanent endowment, Kumāradevī's Sarnath inscription was for the Dharmachakra Jina and the vihāra. It is clear from Kumāradevī's inscription that the copper-plate preceeded it. As such the copper-plate made the significance of the Jina clear to the Queen Kumāradevī and it should not be viewed as Sten Konow takes

---

धर्माशोकनराधिपस्य समये श्रीधम (र्मं) चक्रो जिनो
यादृक् तन्नयरक्षितः पुनरयञ्चक्रे ततोप्यद्भुतम् ।
विहारः स्थविरस्य तस्य च तया यत्नादयङ्कारित-
स्तस्मिन्नेव समर्प्पितश्च वसतादाचन्द्रचण्डद्युति ॥(23)

R. B. Pandey, *op. cit.*, pp. 182-83. English translation-(V. 21) This vihāra, an ornament to the earth, the round of which consists of nine segments was made by her, and decorated as it were by Vasudhārā herself in the shape of Tāriṇi, and even the Creator Himself was taken with wonder when he saw it accomplished with the highest skill in the applying of wonderful arts and looking handsome with (the image of) gods. (V. 22) Having prepared this copper-plate grant, which recorded the gift to Śri Dharmachakra Jina, for so long a time as moon and sun endure on earth, and having given it her that Jambuki was made (?) the foremost of all paṭṭalikās by her (Kumāradevi). (V. 23) This Lord of the Turning of the Wheel was restored by her in accordance with the way in which he existed in the days of Dharmāśoka, the ruler of men, and even more wonderfully, and this vihāra for that sthavira was elaborately erected by her, and might be, placed there, stay there as long as moon and sun (endure). Sten Konow, *op. cit.*, pp. 327-28.

1. Konow, *op. cit.*, 320.
2. [Jambukī was the name of a *paṭṭalikā*, i. e. tehsil division which can be identified with Jamuī in Banaras district. *Ed.*]
3. See fn. 5 above.
4. Konow, *op. cit.*, p. 320.
5. *Loc. Cit.*

it to be. Actually through this Jambukī drew the attention of the queen to the Jina. Yet it is possible, as Sten Konow holds, that the copper-plate might have contained 'information about the original setting up of the Dharmachakra Jina and further details about its maintenance and repairs'.[1]

So far Dharmachakra Jina is concerned Konow talked of three possibilities. In the first case he held that Kumāradevī 'restored the Jina'. Next he presumed that she 'set-up a new one'. Last possibility in his opinion is that she 'constructed' one 'for the purpose'.[2] But according to the inscription Kumāradevī 'restored' [तन्नरक्षितः] the Dharmachakra Jina in accordance with the way in which the Jina existed in the days of Dharmāśoka. Thus Sten Konow's last two possibilities are baseless.

What was this Dharmachakra Jina ? Dharmachakra is a well known Buddhist symbol with its own historical background. But here it is not Dharmachakra, it is Dharmachakra Jina. The term Jina during those days was closely associated with a sect of disciplines of Jainism. Nirgrantha Jaini's one sect was Jinakalpi. As Gautama Buddha had left the amenities of life and became a monk, therefore, the term Jina when associated with Dharmachakra, changes the meaning. Now it stands for a monk that too, one who is well known for Dharmachakra i. e. Gautama Buddha in monk form. Thus it leaves behind the Dharmachakra symbol and stands for the icon of the Buddha. Sten Konow also has taken it to be 'an image of Buddha'.[3] But he had simply inferred without finding any sound basis for it.

Thus the Sarnath inscription of the Queen Kumāradevī found in excavations in the 'north of Dhamekh Stūpa', and over the remnants of the old monastries of the Gupta period'[4] contains information of the Buddha image of the age of Dharmāśoka.[5] The geographical location close to the famous Dhamekh stūpa associated with Aśoka, as well as the explicit mention of its association with Dharmāśoka in the inscription, doubles the significance of the inscription for the art historians of the Buddhist world in particular.

There is one more tradition which associates Aśoka with the Buddha image. This again comes from archaeological source. Some fresco paintings belonging to the seventh century A. C. found at Tun-huang in the Gobi Desert are also signficant. A fresco painting in one of the caves at Tun-huang monastry represents Aśoka sending an image of the Buddha alongwith a branch of the Bodhi-tree to Ceylon.[6]

Elsewhere we have discussed 'Divyānirūpāni and Buddha-play'.[7] Upagupta the spiritual advisor of Aśoka had seen Buddha-vigraha (i. e. the image of Buddha through Buddha-play). This means that for the drama purposes Buddha image was being used during the period of Aśoka. Aśokan inscription centain the word Divyāni-rūpāni[1] translated by Hultzsch as 'divine figures', also indicates that Buddhist religious dramas were in existence during the period of Aśoka in which divine figures were being used. Amongst these divine figures, Buddha figures may also have got a place. This makes us believe the existence of the Buddha figure during the age of Aśoka.

---

[1] *Loc. cit.*

[2] *Loc. cit.*

[3] *Loc. cit.*

[4] Konow, *op. cit.*, p. 319.

[5] For Dharmāśoka see Romila Thaper, *Asoka and the Decline of the Mauryas*, Oxford, 1963, p. 29.

[6] *Ibid.*, p. 47 fn.

[7] K. Chaudhary, *QJMS*, 1980-pp. 153-54.

Kauṭilya has references. of temples in the Arthaśāstra and Patañjali holds that images were prepared and sold during the age of the Mauryas. These evidences lead us to believe that Buddha image might have existed during the period of Aśoka.[2]

——

---

[1] For दिव्यानि रूपानि See Girnar IV. 4; Kalsi, IV. 10; E. Hultzsch, CII, I (Varanasi, 1969), pp. 6 and 30.

[2] K. Chaudhary, *Origin and Development of Vaishṇavism in Northern India upto the Gupta Period*, D. Phil. Thesis, 1966 (Alld. Univ.), p. 29.

क्षत्रिय एवं क्षत्रीकरण की प्रक्रिया

(७०० ई० से १२०० ई० तक)

देवी प्रसाद सिंह*

वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों के बाद दूसरा स्थान क्षत्रियों का था । ऋगवेद के पुरुषसूक्त से मनु एवं नारद की स्मृतियों तक यह स्वर सर्वत्र समान रूप से मुखर है । प्रचलित सामाजिक जीवन में भी यह स्तरीकरण स्वीकृत था । आठवीं और बारहवीं शताब्दी के मध्य उत्तर भारत में जो राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ उससे क्षत्रियों के अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनों में वृद्धि दिखाई देती है । युद्ध के वातावरण में क्षात्र-धर्म प्रासंगिक हो उठता है । गीता में प्रतिपादित छात्र-धर्म का यह आदर्श, कि "युद्ध में मृत्यु का वरण करने पर क्षत्रिय स्वर्ग की प्राप्ति करेगा तथा विजय प्राप्त करने पर पृथ्वी का भोग," इस युग के क्षत्रियों के जीवन में प्रतिबिम्बित है । युद्ध की निरन्तरता ने युद्ध-कर्मी क्षत्रियों के समक्ष जहाँ आसन्न मृत्यु का संकट उपस्थित किया वहीं उनकी सुख सुविधाओं में विस्तार भी किया । इस काल में एक ओर स्थानीय राजवंशों का संघर्ष हो रहा था तो दूसरी ओर पश्चिम एवं उत्तर से मुसलमानों के आक्रमण । विशेषतः मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा बलात् इस्लाम का प्रचार जन-साधारण में गहरे भय का संचार कर रहा था । इन्हीं परिस्थितियों में क्षत्रीकरण की प्रवृत्ति समकालीन सामाजिक-व्यवस्था में उत्पन्न हुई । अनेक युद्धकर्मा क्षत्रियेतर जातियों ने अपने को क्षत्रिय घोषित किया । कतिपय ब्राह्मण-कुलों द्वारा राजत्व की प्राप्ति के साथ क्षत्रित्व का स्वीकार इस काल के सामाजिक इतिहास की एक विशिष्ट घटना कही जा सकती है ।

क्षत्रियों पर राष्ट्र एवं समाज की सुरक्षा का भार था । समकालीन अभिलेखों में उन्हें गो-द्विज का रक्षक एवं म्लेच्छों से आर्यावर्त को मुक्त करने वाला कहा गया है ।[1] जाज्जल्लदेव कलचुरि के मल्हार अभिलेख[2] में एक क्षत्रिय को "द्विजराज" की उपाधि दी गयी है तथा महेन्द्रपाल के उदयपुर दानपत्र[3] में राजा को द्विजों का आभूषण[4] कहा गया है । ये संदर्भ समाज में क्षत्रियों की उन्नत अवस्था तथा उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा का भी बोध कराते हैं । स्मृतियों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को राजदण्ड से मुक्ति थी किन्तु अलबरूनी के यात्रा वृत्तान्त से सूचित होता है कि विवेच्यकाल में यह विशेषाधिकार क्षत्रियों को भी प्राप्त हो गया था ।[5]

वेदों एवं धर्म शास्त्रों में क्षत्रिय के पर्याय के रूप में "राजन्य" शब्द प्रचलित था किन्तु विवेच्य काल में "राजन्य" के स्थान पर राजपूत शब्द लोकप्रिय हुआ । राजपूत शब्द "राजपुत्र" का विकृत रूप है जिसका अर्थ है राजा का पुत्र । राजवंशों के अभिलेखों में "राजपुत्र"

---

* प्रवक्ता, श्रीगांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी, आजमगढ़, उ० प्र० ।

[1] देखिए, इं० ए०, २, पृ० २०१–२१२ ।

[2] ए० इं०, १, पृ० ४१, "विभ्राणो द्विजराज सुंदर पदं मौलोस गंगाधरः" ।

[3] ए० इं०, १, पृ० २३४ ।

तद्धन्ववाए खिलयंश संघतृप्ता मरोवाहृत कीर्तिरासोत् ।
उपेन्द्रराजो द्विजवर्मारत्नं सौर्याज्जितोत्तुंग नृपत्व (मा) नः ॥
(महेन्द्रपाल का दानपत्र)

[4] गौतम०, १२ । ४३ "अवध्यो वैब्राह्मणः सर्वापतधेपुः, मित.ाक्षरा, २, ४ ।

[5] अलबरूनीज इण्डिया, २, पृ० १६१ ।

शब्द राजकुमारों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अभिषिक्त राजकुमार के लिए "राजपुत्र" शब्द पाल[१] एवं सेन[२] अभिलेखों में मिलता है। उड़ीसा[3] और आसाम[४] के नरेशों के दानपत्रों में भी राजपुत्र शब्द का प्रयोग युवराज के लिए हुआ है। कलचुरि नरेश[५] सोढदेव के कहल दानपत्र में उपयुक्त अर्थ में "राजपुत्र" एवं "महाराजपुत्र" शब्द प्रयुक्त हैं। इस प्रकार अभिलेखीय साक्ष्यों के प्रकाश में यह प्रमाणित है कि अनेक सन्दर्भों में "राजपुत्र" शब्द राजकुमार अथवा अभिषिक्त राजकुमार का बोधक है किन्तु इसके साथ ही राजपूत शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर शासक-वर्ग के लिए भी हुआ है।

राजपूत शब्द आठवीं शताब्दी के उपरान्त शासक-वर्ग के पर्याय के रूप में मिलने लगता है।[६] सामाजिक संदर्भ में राजपूत शब्द स्वभावत: क्षत्रिय शब्द का पर्याय बन गया।[७] राजपूतों की उत्पत्ति समकालीन इतिहास की अत्यन्त विवादास्पद समस्याओं में से एक है। सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता के सम्यक् बोध के लिए इसका संक्षिप्त विवेचन अनिवार्य है। अनेक राजपूत राजवंशों के अभिलेखों[८] एवं समकालीन साहित्य[९] में उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। किन्तु कतिपय ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं जिनसे सभी राजपूत राजवंशों का क्षत्रिय होना संदिग्ध लगता है। यही कारण है कि आधुनिक इतिहासकारों ने इस विषय पर परस्पर विरोधी मतों की अभिव्यक्ति की है। चिन्तामणि विनायक वैद्य[१०] गौरीशंकर ओझा[११] आदि अनेक इतिहासकारों ने राजपूतों को आर्य-क्षत्रियों की सन्तान माना है किन्तु इसके विपरीत कर्नल टाड,[१२]

---

१. ए० इं०, ४, पृ० ३४; १५ पृ० २, राजा राजान्यक राक्षीराणकर राजपुत्र (खालिमपुर एवं आमगाच्छी ताम्रपत्र)

२. ए० इं०, १२, पृ० ८, "राजा राजान्यक राक्षीराणकर राजपुत्र"।

३. ए० इं०, १५, पृ० २, 'महासामन्त महाराज राजपुत्र'।

४. ज० रा० ए० सो० बं, २, (१८९७), पृ० १३१।

५. ए० इं०, ११, पृ० १४१, २१, पृ० ६२, "महादेवी महाराजपुत्र महामंत्रिन्', अथवा "देवी राजपुत्र महामात्य राजगुरु" आदि।

६. देखिए, बी० एन० एस० यादव, पूर्वनिदष्ट, पृ० २०२ और आगे।

७. देखिए, जर्नल ऑफ दि इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ दि ओरिएन्ट (१९६४); पृ० ७४।

८. आ० स० रि०, (१९०३–०४), पृ० २८०–२८३; ए० इं०, १८, पृ० १०७, ११०; १८, पृ० ७५, ९७—मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में प्रतीहारों को राम के छोटे भाई लक्ष्मण से जोड़ा गया। देखिए—

स्वभ्राता राम भद्रस्य प्रतिहार्य कृतं यत:।
श्री प्रतीहारवंशी यं अतश्चोन्नतिमाप्नुयान॥

इस सम्बन्ध में देखिए--दशरथशर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज १, पृ० ४७५। गाहड़वालों को उनके अभिलेखों में क्षत्रिय कहा गया है। देखिए, ए० इं०, १४, पृ० १२३–२०६; इं० हि० क्वा० (१६४६) पृ० ३२ और आगे; कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख (ए० इं०, ६, पृ० ३२४) चन्द्रदेव के बारे में कहता हैं—जगति गाहड़वाले क्षत्रवंश प्रसिद्धे जनिनरपतिश्चन्द्रश्चन्द्र नामानरेन्द्र:"। चाहमानों के अनेक अभिलेख उन्हें चन्द्रवंशी अथवा सूर्यवंशी क्षत्रिय बताते हैं, देखिए—एशियाटिक रिसर्चेज, १५, पृ० ४४४, ए० इं०, ६, पृ० ७०; ११, पृ० ३०५।

९. विद्धशालभञ्जिका, १, श्लोक ६; बाल भारत, १, श्लोक ७ तथा ११; पृथ्वीराज विजय काव्य, १, २८ तथा अष्ठम, ५४—उन्नति रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता" १; वास्तुपालचरित्, १, ३, श्लोक ७९।

१०. सी० वी० वैद्य, मिडवल हिन्दू इण्डिया, २, पृ० ५।

११. जी० एच० ओझा, राजपूताना का इतिहास, १ पृ० ४९, और आगे; मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४२ और आगे।

१२. टाड, एनल्स एण्ड एण्टी-क्वेटीज आफ राजस्थान, अनुदित क्रुक, १, भूमिका तथा अध्याय २, ३, एवं ६।

स्मिथ,[1] क्रुक,[2] कैम्पवेल जैसे विदेशी एवं भण्डारकर,[3] त्रिपाठी[4] जैसे स्वदेशी इतिहासकारों के अनुसार राजपूत मूलतः विदेशी थे जिनका क्षत्रीकरण हुआ। विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जो अनेक राजपूत-राजवंशों को भारतीय तो मानता है किन्तु उसकी क्षत्रियेतर उत्पत्ति में विश्वास करता है। इन इतिहासकारों में दशरथ शर्मा,[5] वी० एस० पाठक[6] तथा वी० एन० पाठक[7] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सुविदित है कि कतिपय सुप्रथित राजवंश विवेच्य युग में क्षत्रिय के रूप में प्रतिष्ठित हा गये थे। उदाहरण के लिए प्रतिहार अभिलेखों में तथा प्रतीहारों के समकालीन साहित्य में उन्हें रघुवंशी क्षत्रिय[8] कहा गया है। चाहमान अभिलेखों से भी चाहमानों के चन्द्रवंशी अथवा सूर्यवंशी क्षत्रिय होने की बात ज्ञात होती है।[9] इसी प्रकार गाहड़वाल अभिलेखों में गाहड़वालों को स्पष्टतः क्षत्रिय कहा गया है।[10] किन्तु इन राजवंशों का क्षत्रित्व भी सर्वथा असंदिग्ध नहीं है।[11] उल्लेखनीय है कि घटियाला अभिलेख में प्रतीहारों के मूलपुरुष हरिश्चन्द्र को ब्राह्मण कहा गया है।[12] इसी प्रकार सामेश्वर के बिजौलिया अभिलेख[13] तथा सुन्धा पहाड़ी अभिलेख[14] में चाहमान शासक सामन्तराज को "विप्र-श्री वत्स" के गोत्र में उत्पन्न कहा गया है। यह भी ध्यातव्य है कि **पिंगल सूत्र वृत्ति**[15] में परमार मुंज को

---

१. स्मिथ, **अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया**, (तृतीय संस्करण), पृ० ४०७ और आगे।

२. देखिए–**एनल्स एण्ड एण्टीक्वैटीज आफ राजस्थान**, भूमिका १; **बम्बई गजेटियर** ९, पृ० ४८३; ज० ए० सो०, १८९९, पृ० ५४६।

३. भण्डारकर, **फारेन एलीमेन्ट्स इन हिन्दू पापुलेशन**, ३० ए०, ३९, (१६१०) तथा **तदैव**, ३१, पृ० २५–४९;

४. त्रिपाठी, **हिस्ट्री आफ कन्नौज**, पृ० २२४।

५. इं० हि० क्वा०, पृ० ५८२ और आगे; **तदैव**, १३, पृ० १३७ और आगे; **पूना ओरियन्ट लिस्ट**, २, पृ० ४९—५७; **राजस्थान थ्रूदि एजेज**, १, पृ० ४७२–४८३।

६. **भारती**, खण्ड ६, २ (१९७२–६३), पृ० ३६–४१।

७. **उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास**।

८. आ० स० रि० (१६०३–०४), पृ० २८०, २८३, ए० इ०, १८, पृ० १०७, ११० (मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ७ में वत्सराज को एक क्षत्रिय पुंगव कहा गया है, **विद्धशालभञ्जिका**। श्लोक ६; **बाल भारत**। श्लोक ७, ११.

९. ए० इं०, ६, पृ० ७०, ११, पृ० ३०५, **एशियाटिक रिसर्चेज**, १५, पृ० ४४४, वेदला प्रशस्ति, श्लोक ३५–३६, देखिए—ओझा, **पूर्वनिर्दिष्ट**। पृ० ७३ तथा उसकी पादटिप्पणी।

१०. ए० इं०, १४, पृ० १९३—२०९; इं० हि० क्वा (१०४७) पृ० ३२ और आगे; कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख (ए० इं०, ६, पृ० ३२४)।

११. देखिए—एस० बी० चौधरी, **एथनिक सेटलमेन्ट्स इन एन्श्येन्ट इण्डिया**, पृ० १६८।

१२. ज० रा० ए० सो० बं०, १८९५, पृ० ५१६।

१३. ए० इं०, ९, पृ० ७०, श्लोक ४।

१४. ए० इं०, २६, लोक ११–११—

"विप्रः श्री वत्सगोत्रेऽभूदहिच्छत्रपुरे पुरा।
सामन्तो अनन्त सामन्तः पूर्णतल्ले नृपस्ततः॥;

देखिए—**तदैव**, ६, पृ० ७६।

१५. **पिंगलाचार्यकृत छन्दशास्त्र**, अ० ४, श्लोक १९ की टीका

ब्रह्मक्षत्र कुलीनः समस्त सामन्त चक्रपूत चरणः।
सकल सुकृतैक पुंजः श्रीमान् मुंजाश्चिरं जयति॥

ब्रह्मक्षत्र कुलीन कहा गया है और इसी प्रकार चाट्सू अभिलेख गुहिलों को तथा **बल्लालचरित्**[1] सेनों को ब्रह्मक्षत्र कुलीन कहता है। **"मत्स्यपुराण"**[2] में ब्रह्मक्षत्र परम्परा की ओर संकेत करते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्मक्षत्र की योनि कलियुग में राजाओं की क्षेमकारी संस्था बनकर देवर्षियों द्वारा सत्कृत होगी। इन तथ्यों की पृष्ठभूमि में यह असम्भव नहीं प्रतीत होता है कि कतिपय ब्राह्मणकुल राजसत्ता से जुड़ने के कारण राजपूत कहलाए हों तथा सामाजिक स्तरीकरण में जात्यपकर्ष के माध्यम से क्षत्रियवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट हुए हों।

स्मिथ[3] ने चन्देलों एवं मध्यप्रदेश के आदिवासी गोंडों की जीवन पद्धति में कतिपय महत्वपूर्ण समानताओं की ओर संकेत किया है। गोंड़ों अथवा भरों से चन्देलों की उत्पत्ति की संभावना का पूर्णतः निषेध नहीं किया जा सकता। चन्देलों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे राजवंश राजसत्ता के मध्यम से जात्युपकर्ण द्वारा क्षत्रिय हुए होंगे। **ब्रह्माण्ड पुराण**[4] का यह कथन हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि राजपुत्र संकर जातीय थे। इसी प्रकार **शूद्र कमलाकर**[5] में राजपूतों का उल्लेख उग्र के साथ हुआ है जो शूद्रा से उत्पन्न क्षत्रिय की सन्तान है। ये उद्धरण यदि अक्षरशः सत्य न भी हों तो भी निश्चित रूप से इस बात का संकेत करते हैं कि हीन जातीय लोग राजपूतों में सम्मलित हो गये थे।

भारत में आक्रमणकारियों के रूप में प्रवेश करने वाले यवन, शक, पहलव, कुषाण एवं हूण राजसत्ता से सम्बद्ध होने के कारण भारतीय समाज में व्रात्य-क्षत्रियों के रूप में अङ्गीकार किए गए किन्तु कालक्रमेण हिन्दू-समाज में पूर्णतः पच गए और उनके विदेशी उत्पत्ति की स्मृति निःशेष हो गयी। चन्देलों के अधीन बनाफर क्षत्रियवंश, जिससे आल्हा एवं ऊदल सम्बद्ध थे, सम्भवतः कुषाण वंशी थे।[6] कनिष्क के साम्राज्य का पूर्वी भाग का प्रशासक बनस्फर था। संभवतः इसी बनस्फर के वंशज बनाफर क्षत्रियों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। हूणों[7] का का उल्लेख भी ३६ राजपूत-राजवंशों की सूची में प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि राजपूतों के अन्तर्गत विदेशी तत्व भी सम्मलित थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्वनित है कि विवेच्यकाल में राजपूत शब्द समस्त शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था तथा इसका प्रयोग उदारता पूर्वक एक विस्तृत आयाम में किया गया है। बड़े शासकों से लेकर छोटे स्थानीय सामन्त तक राजपुत्र अथवा राजपूत शब्द से सम्मानित हुए। विवेच्य युग में राजनीतिक कारणों से जो अनेक नवीन राजशक्तियाँ उदित हुई, उनमें विभिन्न वर्णों एवं जातियों के लोग सम्मलित थे। विषम स्थिति ने सामाजिक स्तरीकरण को चुनौती दी। परिणामतः क्षत्रियेतर राजपूतों के क्षत्रीकरण

---

[1] **बल्लाल चरित्**, पृ० ३६.

[2] **मत्स्यपुराण**, ५०, ८८ **ब्रह्मक्षत्रस्य योनिर्वंशो देर्वाषसत्कृतः।**
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्था प्राप्स्यति वैकलौ॥

[3] ज० रा० ए० सो० बं०, (१८७७), ४६, पृ० २२६—उनका तर्क है कि चन्देल शासित अनेक गाँवों की स्थानीय परम्राओं में गोंड़ों, भीलों, कोलों, भरों, चमारों, एवं अनेक निम्न जातियों को उस क्षेत्र का मूल निवासी माना जाता है। मनियागढ़ की देवी की पूजा चन्देल और भर आज भी समान रूप से करते हैं। रसेल की मान्यता कि थी चन्देल और गाहड़वाल दोनों ही मूलतः भरों की सन्तान थे। देखिए **ट्राइब्स एण्ड कास्ट्म आफ सेन्ट्रल प्राविन्सेज आव इण्डिया**, पृ० ४४०—४१३। मजूमदार (ए० ० इं, पृ० ५०३) चन्देलों को मूलतः अनार्य मानते है।

[4] **ब्रह्माण्ड पुराण**, ३, पृ० १३; देखिए—**हिस्ट्री ऑफ बंगाल**, १, पृ० ५६७ तथा आगे; हाजरा, **स्टडीज इन दि उपपुराणाज**, २, पृ० ४३७

[5] सी० वी० वैद्य, **मिडवल हिन्दू इण्डिया**, २, पृ० ४३ पर उद्धृत।

[6] देखिए—आर० बी० पाण्डेय, **यदुवंश का इतिहास**, पृ० १२७।

[7] देखिए—टाड, ए० ए० **राजस्थान**, १, ६८; **कृत्यकल्पतरु**, **ब्रह्मचारी काण्ड**, अध्याय ७; वैद्य, **पूर्वनिर्दिष्ट**, ३, पृ० ३८६ और आगे।

का प्रयत्न हुआ। यह प्रयास साहित्य एवं अभिलेखों में अनेकशः प्रतिध्वनित है।

क्षत्रियेतर जनों के क्षत्रीकरण के कारण ही संभवतः विवेच्यकाल में क्षत्रियों के दो वर्गों का उल्लेख मिलता है। दसवीं शताब्दी के अरब-यात्री इब्नखुर्दब्दा[१] ने क्षत्रियों के दो वर्ग, क्रमशः साबकुफ़ीय और कटरीय, का उल्लेख किया है। जैसा कि अल्तेकर[२] ने कहा है—ये संस्कृत शब्द "सतक्षत्रिय" और "क्षत्रिय" का भाव वहन करते हैं। दसवीं शताब्दी के एक अभिलेख[३] में भटिण्डा का एक स्थानीय राजा अपने को "सुक्षत्रियान्वयं—विभूषण" कहता है। क्षेमेन्द्र के **बोधिसत्वावदानकल्पलता**[४] तथा वत्सराज के **किरातार्जुनीय**[५] में भी क्रमशः "सुक्षत्रिय" एवं "सतक्षत्रिय" शब्द प्राप्त होते हैं। **पृथ्वीराज विजय**[६] में क्षत्रियों के दो वर्गों का उल्लेख है। प्रथम वे जिनका क्षत्रियत्व शुद्ध था तथा द्वितीय वे जिन्होंने बलात् इसे प्राप्त कर लिया था। **द्वाश्रयकाव्य** में स्पष्टतः शुद्ध क्षत्रिय एवं अन्य क्षत्रियों का उल्लेख है। वैद्य[७] महोदय का मत है कि सत्क्षत्रिय शब्द शासक क्षत्रियों का सूचक है तथा क्षत्रिय कृषि कार्य में संलग्न साधारण क्षत्रियों का। प्रो० यादव[८] के अनुसार सत्क्षत्रिय के अन्तर्गत शासक एवं सामन्त थे। वे अंशतः क्षत्रित्व का आधार वंशगत श्रेष्ठता को भी मानते हैं। किन्तु **पृथ्वीराज विजय** का उपर्युक्त संदर्भ यह स्पष्ट संकेत करता है कि परम्परागत क्षत्रिय सत्क्षत्रिय माने जाते थे तथा राज शक्ति के माध्यम से क्षत्रित्व प्राप्त करने वाले क्षत्रिय सामाजिक दृष्टि से हीन समझे जाते थे। यह भेद वास्तव में नए व पुराने क्षत्रियों के अंतर की ओर इंगित करता है।

क्षत्रियों के कर्तव्य

प्रजा की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना और सांसारिक विषयों में चित्त न लगाना, ये पांच कर्म क्षत्रियों के नियत थे।[९] लक्ष्मीधर ने क्षत्रिय शब्द को "क्षतात्माणम्" से निःसृत माना है।[१०] मनु, पराशर, हारीत, बोधायन एवं देवल को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि शस्त्र धारण करना, देश का निष्पक्ष शासन करना और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना राजा के रूप में क्षत्रियों का विशेष कर्तव्य है।[११] **समराङ्गण सूत्रधार** में भोज ने कहा है कि जो वीर, उत्साही, शरण देने एवं रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ एवं लम्बे शरीर वाले थे वे इस संसार में क्षत्रिय हुए।[१२] अलबरूनी ने भी क्षत्रियों के कर्म की ओर ध्यानाकृष्ट किया है।[१३]

---

१. इलि० हिस्ट्री०, १, पृ० १६–१७।

२. राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ३१८–१६।

३. ए० इं०, २१, पृ० २६७,

४. बोधिसत्वावदान कल्पलता, २, पृ० २२३।

५. रूपक, पृ० १४, श्लोक ३६।

६. पृथ्वीराज विजय, ६, पृ० २४४।

७. द्वाश्रय काव्य, २, पृ० ५४८।

८. हि० मि० हि० इं०, ३, पृ० ३७४।

९. प्रजानां रक्षणं दानभिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वसक्तिकूच क्षत्रियस्य समासतः॥
मनु०, १·८६; याज्ञ०, ५/११८; शंख, १/३–४;
गौतम०, १०/७–८ आदि।

१०. कृत्यकल्पतरू, गृहस्थ काण्ड, पृ० २५२।

११. तदैव, पृ० २५३।

१२. समराङ्गण सूत्रधार, अ० ७।
येतु सुरा महोत्साहाः शरण्या रक्षण क्षमाः।
दृढ़ व्यायत देहाश्च क्षत्रियास्त इहाभवन।
विक्रमोलोक संरंक्षा विभागो व्यवसायिता॥

१३. अलबरुनीज इण्डिया, २, पृ० १३६।

समकालीन साहित्य एवं अभिलेखों से यह सूचित होता है कि अधिकांश क्षत्रिय युद्धकर्मी थे। राजसत्ता सम्पन्न क्षत्रियों के विभिन्न स्तर थे। वे शासक एवं सामन्त के रूप में सदैव सैनिक सेवाओं के लिये उद्यत रहते थे।[१] बाल्यावस्था से ही उनके व्यक्तित्व में शौर्य एवं साहस के संस्कार डाले जाते थे तथा आत्म बलिदान के लिये प्रस्तुत रहने की मानसिकता उत्पन्न की जाती थी। यही कारण है कि इस युग के क्षत्रियों में वीरता का अभाव नहीं दिखायी देता है। यद्यपि मुस्लिम आक्रमणकारियों के समक्ष राजपूतों की पराजय क्षत्रियों के शौर्य पर एक प्रश्न चिह्न लगाती है किन्तु ज्ञात तथ्यों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन पराजयों का कारण साहस एवं पराक्रम का अभाव नहीं वरन् सामरिक-संगठन, व्यूह-रचना सम्बन्धी दोष, पारस्परिक वैमनस्य ही अधिक था। सामान्य क्षत्रिय अधिकांशतः सैनिक-वृत्ति धारण करते थे। क्षत्रियों के लिये युद्ध से पलायन करना अपमानजनक तथा वीरगति सम्मान्य समझा जाता था।[२]

इस काल में हम अनेक क्षत्रियों को विद्या एवं कला के प्रति अनुरक्त देखते हैं। विशेषतः राजाओं में ज्ञान के प्रति अभिरूचि के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। परमार भोज[३] अनेक विद्याओं का ज्ञाता था। उसने काव्यशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र पर समान रूप से ग्रन्थ लिखे। भोज का पूर्ववर्ती शासक मुंज परमार भी अनेक ग्रन्थों का रचयिता था।[४] चाहमानों में विग्रहराज चतुर्थ उच्चकोटि का कवि एवं नाटककार था तथा गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल भी विभिन्न विद्याओं का ज्ञाता था। इन उद्धरणों से इस बात का संकेत मिलता है कि ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रिय वर्ग में भी सुख-सुविधा-सम्पन्न लोग विद्या-व्यसनी थे।

इस काल के क्षत्रियों में उदारतापूर्वक दान देने की परम्परा भी सुप्रचलित दिखायी देती है। अधिकांश क्षत्रिय धार्मिक प्रवृत्ति के थे। राजाओं से लेकर छोटे-छोटे स्थानीय सामन्तों के बहुसंख्यक ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो ग्राम-दान तथा भूमि-दान आदि का उल्लेख करते हैं। ऐसे भी क्षत्रिय अज्ञात नहीं थे जो धार्मिक भावना से प्रेरित होकर वृद्धावस्था में स्वेच्छया राजसत्ता का परित्याग कर सन्यास ग्रहण कर लेते थे।[५] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय शास्त्र सम्मत कर्त्तव्यों के पालन के प्रति सजग थे। यत्र-तत्र ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि बहुत से सामान्य क्षत्रिय कृषि-कार्य में भी लगे हुये थे।[६] **राजतरंगिणी** से इस बात का भी संकेत मिलता है कि कुछ क्षत्रिय व्यापार में लगे हुए थे।[७]

सामाजिक प्रतिष्ठा

विवेच्च युग में क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति सामान्य थी। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राजसत्ता से सम्बन्ध होने के कारण वे अनेक प्रकार की सुविधाओं का उपभोग करते थे। संभ्रान्त क्षत्रिय, जिनमें राजा एवं सामन्तगण सम्मलित थे, आर्थिक दृष्टि से विशेष सम्पन्न थे। अतः विलासमय जीवन व्यतीत करते थें। इसका एक प्रबल कारण यह है कि उन्हें सैनिक सेवाओं के बदले, बड़े-बड़े भूखण्डों का स्वामित्व प्राप्त था जिनपर वे श्रम

---

[१] ए० इं०, १८, पृ० ९८, ११, पृ० ३०४।

[२] देखिये—बी० एस० उपाध्याय, **सोश्योरिलीजियसकन्डीशन आफ नार्दन इण्डिया**, पृ० ४२ और आगे, बी० पी० माजूमदार, **सोश्यो-इकनामिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया**, अध्याय २।

[३] देखिये—**विक्रमांकदेवचरित**, १८ वां ६६, राज० सप्तम, २५६, थिओडोर आफेक्ट, **केटलाग्स कैटेलागुरम्**, १, पृ० ४८०।

[४] ए० इं०, १ पृ० २३५।

वक्तृत्वोच्चकवित्वतर्ककलन प्रज्ञात शास्त्रागमः।
श्री भववाक्यतिराजदेव इति यः सद्भिः सदाकीर्त्यते॥

देखिये—**नवसाहसांकचरितु**, ११ वाँ, ९३।

[५] ए० इ०, १, पृ ३०८, इ० ए०, ११ पृ० २०४।

[६] देखिये—**बी० एन० एस० यादव, पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ३४, **राजतरंगिणी**, ७/४५८-५६, ए० इ०, १६, पृ० ५६

[७] देखिये—**राजतरंगिणी**, अध्याय अष्टम तथा आगे।

जीवियों की सहायता से खेती कराते थे। किसानों को कृषि हेतु पट्टे पर भूमि देते थे। अतएव उन्हें समय-समय पर बेगार भी मिलती रहती थी। साधारण क्षत्रिय जो सैनिक वृत्ति धारण करते थे, उनका भी जीवन सन्तोष जनक था। अच्छे सैनिकों को उनके शौर्य के लिए पुरस्कृत किया जाता था।[1] युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले क्षत्रियों को मृत्यु-वृत्ति भी प्राप्त होती थी।[2] युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले सैनिकों को राजा की ओर से भूमिदान के अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं।[3] कभी-कभी सैनिकों को राजकीय सम्मान से भी विभूषित किया जाता था।[4] चन्देल राजा परमार्दि द्वारा मालाधर नामक सैनिक को दी गयी "वीर मुख्य" की उपाधि उद्धरणीय है।[5] इस काल में क्षत्रिय राजाओं, राजकुमारों तथा सामान्य राजपूतों के नाम के साथ वर्मा अथवा सिंह उपाधि लिखने की परम्परा प्रचलित हो गई थी। कतिपय क्षत्रिय कुलों में देव और पाल उपाधि धारण करने की परम्परा भी दिखाई देती है।

* * *

---

[1] शुक्रनीति०, १, पृ० ४२१।

[2] ए० इं०, १६, पृ० २७५, तुरुष्क युद्ध……पाएपुत्राए सामन्त नाम्ने प्रसादेन मृत्यु—वृत्तों शासनं कृत्वा प्रदत्तइति।

[3] ए० इं०, २२, पृ० ११३, इ० ए०, १८, पृ० १३५।

[4] ए० इं०, ४, पृ० १३१, राजपिट्ट उपार्जिता श्रीमद् कमलपालेन बुद्धया, ए० इ०, २, पृ० ३४४, तत्रैव पृ ३३३।

[5] ए० इं०, ३, पृ० ३३३।

गोरखपुर जनपद का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

कुँवर बहादुर कौशिक*

भू-वैज्ञानिकों[1] के अनुसार सात करोड़ वर्ष पूर्व-मध्य-जीव कल्प (Mesozoic Era) में टेथिस सागर (Tethys) (अर्थात जलप्लावन[2] पश्चात्) के स्थान पर हिमवत का निर्माण हुआ।[3] हिमवान के चरण प्रान्तर की शिवालिक शिला के तलछट निक्षेप से अवतल[4] (तराई क्षेत्र) रूप में इस प्राचीन सरयूपार क्षेत्र का निर्माण हुआ है। प्राचीन गोरखपुर के उत्तर में नयपाल (नेपाल, हिमालय), दक्षिण में सरयू सरिता, पूर्व में चम्पारण्य तथा पश्चिम में कुआनो नदी स्थित थी।

गोरखपुर जनपद के प्रागैतिहासिक अवशेष कुआनो नदी से बस्ती कचहरी के निकट प्राप्त हुए हैं। वैदिक कालीन विवस्वान[5] पुत्र मनु[6] आदि राजा थे।[7] इस सूर्यवंशी नरेश की राजधानी अयोध्या थी, जिसके अन्तर्गत प्राचीन गोरखपुर जनपद था। मनु पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या के राजा हुए। इसी सूर्यवंशी परम्परा में ककुस्थ, युवनाश्व हुए। युवनाश्व पुत्र श्रावस्त ने प्रसिद्ध 'श्रावस्ती'[8] नगर की स्थापना किया जिसका पूर्वी भाग वस्ती=बस्ती आज भी विद्यमान है। तदनन्तर मान्धाता, सगर, भगीरथ, रघु आदि अनेक प्रसिद्ध सूर्यवंशी नरेशों के अधीन गोरखपुर जनपद शान्त एवं समृद्धिशाली क्षेत्र था।

त्रेतायुग—दिग्विजयी रघु के नाम से सूर्यवंश की एक नवीन शाखा रघुवंश नाम से प्रचलित हुई। रघु के पश्चात् अज, दशरथ तथा राम के काल तक प्राचीन गोरखपुर जनपद अयोध्या क्षेत्रान्तर्गत था। अश्वमेध यज्ञोपरान्त राम ने अपने वर्द्धमान परिवार में विशाल साम्राज्य को विभाजित कर दिया। लक्ष्मण पुत्र अंगद और चन्द्रकेतु को भरत की सम्मति से 'कारुपथ'[9] देश का भाग दिया गया—'तद्वाक्यं भरतेनोक्तं प्रति जग्राह राघवः। तं च कृत्वा वशे देशमंगदस्यन्यवेशयत्। अंगदीया पुरी रम्या ह्यंगदस्य निवेशिता। रमणीया सुगुप्ता च रामेणक्लिष्ट कर्मणा। चन्द्रकेतोश्च मल्लस्थ मल्लभूम्यां निवेशिता''।[10] अंगद के लिए पश्चिमी भूमिमें अंगदीया एवं चन्द्रकेतु के लिए मल्लभूमि चन्द्रकान्ता नगरी स्थापित हुई। रघुवंश, वायुपुराण और विष्णु पुराण से भी इसकी पुष्टि होती है। वाल्मीकि रामायण में कारुपथ के पूर्वोत्तर भाग को मल्लभूमि उल्लिखित है, जहाँ चन्द्रकेतु कीं राजधानी चन्द्रकान्ता स्थापित की गई थी। भारत के प्राचीन इतिहास में मल्लभूमि=मल्लराष्ट्र गोरखपुर जनपद की मल्लभूमि ही ज्ञात है, जिसका विशद वर्णन बौद्ध साहित्य में किया गया है। वाल्मीकि रामायण में चन्द्रकेतु की उपाधि 'मल्ल'[11] थी इसीलिए इस भाग को

---

* प्राचार्य, महाविद्यालय, मटवली बाजार, गोरखपुर।

[1] D. N. Wadia, *Geology of India*, p. 63.

[2] रामायण, युद्ध० १०४।२७; म. भा., भीष्मपर्व १।२४, कर्णपर्व ९५।०; वायुपुराण, ४१।४०।

[3] R. S. Mithal—*The Physiographical and Structural Evolution of the Himalayas*, p. 41-81.

[4] M. S. Krishanan--*Geology of India and Burma*, p. 84-85.

[5] ऋग्वेद, ८।१।३।

[6] तत्रैव, ८।२७।२१।

[7] रामायण, बालकाण्ड ६।४।

[8] जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १६०६, पृ० १०६७।

[9] रामायण, उत्तर काण्ड, सर्ग० १०२।५-६ "अथ कारुपथो देशो……पुरमंगदस्य…………चन्द्रकेतोः सुरुचिरं चन्द्रकान्तं निरामयम्"।

[10] तत्रैव, ७-९।

[11] तत्रैव, ७-९ 'चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता'।

मल्लभूमि[१] = मल्लराष्ट्र कहा गया। इसी आधार पर यहाँ के शासक मल्ल कहे जाने लगे। इस प्रकार कोशल राज्य का प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी भाग, वस्ती का पूर्वी तथा चम्पारण्य का पश्चिमी क्षेत्र का भू-खण्ड, चन्द्रकेतु के अधिकार में था जिसका नियंत्रण चन्द्रकान्ता (चन्द्रकौली)[२] से होता था।

द्वापर काल—सूर्यवंश के समानान्तर तथा समकालीन हिमालय क्षेत्र के चन्द्रपुत्र बुध से मनु पुत्री इला का विवाह हुआ था। मनु ने इलावर्त = इलाहाबाद का क्षेत्र दहेज में दिया। वहीं प्रतिष्ठान (झूँसी) को चन्द्रवंशियों ने अपनी राजधानी बनाया था। भारत का प्राचीन इतिहास सूर्यवंश-चन्द्रवंश के संघर्ष एवं समन्वय का इतिहास है। द्वापर में सूर्यवंश की शक्ति क्षीण हो गयी थी। इस काल में कोशल लघु राज्यों में बँट गया था, महाभारत युद्ध के समय कोशल नरेश वृहदबल ने कौरव पक्ष से युद्ध किया था।[3] इनके साथ गोरखपुर जनपद के कोशलाधीन सामन्त राजे भी थे। युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ के पहले भीम ने पूर्वी राज्यों को विजित किया था, जिसमें अयोध्या के पूर्व दो राज्यों १–गोपालक और २–मल्लराष्ट्र का उल्लेख है। इस काल में मल्लराष्ट्र की राजधानी कुशीनगर थी। गोपालक राज्य अयोध्या और मल्लराष्ट्र के मध्य स्थित था। गोपालक का समीकरण इस जनपद के बांसगाँव तहसील में स्थित गोपालपुर से किया जा सकता है, जो कौशिक राजवंश की राजधानी थी।[४] जनश्रुति है कि सरयू के किनारे का राज्य विश्वामित्र के वंशज कौशिकों को गुरु-दक्षिणा में मिला था।

विकेन्द्रीकरण का युग

महाभारत युद्ध के पश्चात् स्थानीय राज्य स्वतन्त्र होते गये। बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में 'सोलस महाजनपद' (जातीयभूमि, राज्य, राष्ट्र) का उल्लेख मिलता है।[५] साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति गणतन्त्र व्यवस्था में हुई थी। महाजनपद निर्माण प्रक्रिया में मल्लों ने कोसल से पृथक राष्ट्र बनाकर कारुपथ (बस्ती) तथा गोपालक (गोपालपुर) पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। परन्तु विकेन्द्रीकरण की तीव्र लहर ने गोरखपुर जनपद में ही नहीं वरन् उत्तर में में हिमालय से दक्षिण वत्स राज्य के मध्य अनेक शक्तिशाली गणतन्त्रीय राज्यों की स्थापना किया। प्रचीन गोरखपुर जनपद के अन्तर्गत कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलीवन के मौर्य, पावा के मल्ल, तथा कुशीनारा के मल्ल थे। शाक्यगणराज्य की पूर्वी सीमा रोहिणी नदी थी। रोहिणी के पूर्वी भाग पर कोलिय गणतन्त्र था। **धम्मपद-अट्ठकथा** से ज्ञात होता है कि रोहिणी नदी के जल के लिए दोनों गणतन्त्रों में कभी-कभी संघर्ष भी होता था।[६]

रामग्राम

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात है कि रोहिणी के पूर्व में रामग्राम स्थित था। वर्तमान गोरखपुर नगर ही प्राचीन रामग्राम के नाम से विख्यात था। विद्यमान रामगढ़ ताल से संकेतित है कि कोई गढ़ या दुर्ग यहाँ था। इसी के निकट कोलियों ने भगवान बुद्ध के अवशेष पर स्तूप बनवाया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने रामग्राम स्तूप की यात्रा किया था। सिंहली बौद्ध ग्रन्थ[७] में उल्लेख है कि रामग्राम में निर्मित स्तूप को नदी बहा ले गई। बाढ़ के समय आज भी रामगढ़ ताल और राप्ती नदी का पानी एकाकार हो जाता है।

पिप्पलीवन के मौर्य भी प्रचीन गोरखपुर जनपद में थे। ह्वेनसांग लिखता है कि मौर्यों की राजधानी पिप्पलीवन से पूर्वोत्तर दिशा में घने जंगलों से होता हुआ कुशीनगर पहुँचा। इससे ज्ञात होता है कि कुशीनगर

---

१. द्रष्टव्य–श्री पं० रामप्रसादजी पाण्डेय–गोरखपुर जिले का इतिहास, पृ० ९-११।

२. चन्दकौली = चन्दौली गोरखपुर-बड़हलगंज मार्ग पर गोरखपुर से कुछ दूरी पर स्थित है, जिसका उल्लेख बुद्ध के सन्दर्भ में बौद्ध साहित्य में हुआ है।

३. महाभारत, भीष्म पर्व ९।४४।

४. डॉ० राजबली पाण्डेय, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ५६।

५. अगुन्तर निकाय–१।२१३, महावस्तु–३।२०८, २०९, भगवतीसूत्र।

६. धम्मपद-अट्ठकथा, १५।१

७. महावंश।

और कोलिय राज्य के मध्य पिपलीवन स्थित था । पुरातत्ववेत्ता कार्लाइल ने रजधानी=राजधानी या उपधौलिया के विस्तृत टीलों को पिप्पलीवन का भग्नावशेष निश्चित रूप से माना है ।[1] यह स्थान गोरखपुर नगर से १४ मील दक्षिण-पूर्व गुर्रा नदी के किनारे है । मल्लों की दोनों राजधानियां कुशीनारा तथा पावा प्राचीन गोरखपुर में सम्मिलित थे । भगवान बुद्ध के जन्म-मृत्यु का लेखा गोरखपुर जनपद के क्रोड़ में तो अंकित है ही भगवान महावीर की निर्वाणस्थली पावा भी प्राचीन गरोखपुर में ही थी ।

मगध का उत्कर्ष

कोशल के विडूडभ ने शाक्य गणराज्य को समाप्तकर दिया ।[2] मगध के विम्बसार, अजातशत्रु, शिशुनाग एवं नन्दों ने गोरखपुर जनपद के शेष गणराज्यों को अपने साम्राज्य में समाहित कर लिया ।[3] चन्द्रगुप्तमौर्य एवं विन्दुसार के समय यद्यपि सभी गणतन्त्र मौर्यसाम्राज्य में विलीन हो गये थे परन्तु गोरखपुर का 'मल्लक' राज्य जीवित था, जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है ।[4] विन्दुसार पुत्र अशोक के काल में गोरखपुर जनपद पुनः प्रकाशित हो उठा । प्रियदर्शी ने भगवान बुद्ध के जन्मस्थान 'लुम्बिनीवन' एवं निर्वाण-स्थली कुशीनारा में स्तूप, स्तम्भ एवं प्राकार निर्मित कराकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित किया । मौर्यों के पतनोपरान्त शुंगशासन में भी मल्ल राज्य जीवित रहा । मल्लों को तत्कालीन साहित्य में व्रात्य क्षत्रिय कहा गया है ।[5] शुंग तथा कण्व वंश के काल में सरयूपार का यह क्षेत्र मगध के आधीन था ।

वाह्याक्रमण की प्रतिक्रिया

शुंगों के समय हिन्द-यूनानियों के आक्रमण साकेत एवं कुसुमध्वज पाटलिपुत्र पर हुए,[6] जिसके मध्य सरयूपार क्षेत्र स्थित है । परन्तु यह जनपद अप्रभावित रहा । संभव है कि यवनों को खदड़ने में इस जनपद के मल्लों ने भाग लिया हो क्योंकि वृहत्संहिता का कथन है कि 'मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवनाः युद्ध दुर्मदा।'' । हिन्द-यूनानियों के अनन्तर शक पहलवों का आक्रमण पश्चिम-उत्तर भारत तक ही सीमित था और यह जनपद निरापद रहा । कुषाणों के प्रभावी तथा व्यापक आक्रमण के कारण उत्तरी भारत की राजनैतिक शक्ति क्षीण हो गयी । जनता विदेशी (म्लेच्छों) के अत्याचारों से त्रस्त[7] होकर कुषाणों के विरुद्ध यौधेय और उसके सहायक गणतन्त्रों ने पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर दिया और पूर्वी भाग तथा मध्य भाग पर नागवंशी भारशिव क्षत्रियों तथा सरयूपार के क्षत्रिय गणों ने प्रहार कर कुषाण शक्ति विच्छिन्न कर दिया । परिणामतः सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर (पाटलिपुत्र से मथुरा तक) नागों का प्रभाव स्थापित हो गया ।[8] कुषाणों पर विजय के उपलक्ष्य में भारशिवों ने काशी में दश अश्वमेध यज्ञ कर[9] 'दशाश्वमेध घाट' स्थापित किया ।[10] सरयूपार क्षेत्र में यह जनश्रुति है कि आधुनिक राजपूत वंशों ने 'भरों' को पराजित कर उन पर अधिकार कर लिया था । वस्तुतः ये भर नहीं वरन 'भारशिवों' के वंशज थे ।

---

१. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, जि० १८, टूर इन दि गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट इन १८७५-७६ एण्ड १८७६-७७ ।

२. मज्झिम निकाय, २।२।९, धम्मपद अट्ठकथा, ४-३ ।

३. कलियुग राजवृत्तान्त, भाग ३, अध्याय २, महावंश पृ० ३६ ।

४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र ११।१ ।

५. मनुस्मृति, १०।२२ ।

६. पतंजलि, महाभाष्य, मालविकाग्निमित्रम्, ५।१५; वृहत्संहिता, १।३८ तथा कलियुगराज वृत्तान्त, पृ० ५६ ।

७. 'युगदोष दुराचार भविष्यन्ति नृपास्तु ते । स्त्रीणां बाल वधेनैव हत्वाचैव परस्परम्''—कलियुगराज वृत्तान्त, पृ० ५६-५७ ।

८. डा० काशी प्रसाद जयसवाल, हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५० ई०), पृ० १-६१ ।

९. फ्लीट, गुप्त इस्क्रिपशनस, पृ० २४५ ।

१०. डा० जायसवाल, तथैव, पृ० ७ ।

गुप्त साम्राज्य का उदय

चतुर्थ शताब्दी ई० के प्रारम्भिक चरण में प्रयाग तथा साकेत के मध्य गुप्तों का अभ्युदय हुआ । गोरखपुर जनपद चन्द्रगुप्त प्रथम के अधीन हो गया ।[1] चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल में श्रावस्ती भुक्ति मगध साम्राज्य का एक प्रान्त था, जिसमें गोरखपुर जनपद स्थित था । इसी समय चीनी यात्री फाहियान अपने यात्रा विवरण में लिखता है कि लुम्बिनीवन से पूर्व (वस्तुतः दक्षिण पूर्व) की ओर पांच योजन चलकर राम नामक (गोरखपुर) जनपद में पहुँचा और एक झील (रामगढ़ ताल) के किनारे निर्मित स्तूप की नागों (नागवंशी क्षत्रियों) द्वारा पूजा करते देखा । वहां से चन्दौली, अनोमा (आमी) तट के स्तूप को देखते हुए कुशीनगर पहुँचा । गोरखपुर जनपद उस समय पर्याप्त सुखी था ।[2] कुमारगुप्त की छः रजत मुद्राएँ गोरखपुर जनपद के कुशीनगर के उत्खनन में प्राप्त हुई थीं ।[3] कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के शासन काल का एक लेख प्रस्तर स्तम्भ पर उत्टंकित प्राचीन गोरखपुर जनपद के सलमेपुर तहसील के 'कहाँव' नामक गाँव से प्राप्त हुआ है ।[4] स्तम्भ के साथ ही पांच नग्न स्थानक मूर्त्तियाँ भी थीं, जो पांच जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं । इस समय भी गोरखपुर जनपद गुप्त साम्राज्यान्तर्गत था एवं यहाँ जैन धर्म प्रचलित था, जो धार्मिक सद्भाव एवं समभाव को प्रमाणित करता है । गुप्तोत्तर काल में गोरखपुर जनपद कान्युकब्ज के मौखरी वंश के अधीन हो गया । नालन्दा से प्राप्त मौखरी मुहरों तथा जौनपुर की जामा मसजिद में उत्कीर्ण मौखरी अभिलेखी से इसकी पुष्टि होती है ।[5] डा० रमाशंकर त्रिपाठी क पुस्तक 'कन्नौज का इतिहास' से ज्ञात होता हैं कि इस समय बारहवीं शताब्दी के अन्त (तुर्क आक्रमण) तक गोरखपुर जनपद कन्नौज के अधीन रहा । पुष्यभूति वंश के सम्राट हर्षवर्धन के समय गोरखपुर कान्यकुब्ज साम्राज्य की श्रावस्ती भुक्ति (प्रान्त) में सम्मिलित था । हर्षवर्धन के मधुवन (आजमगढ़) ताम्रपत्र से इसकी पुष्टि होती है : "श्री हर्ष श्रावस्तीभुक्तौ कुण्ड धानी वैषयिक सोमकुण्डिका ग्रामे" ।[6] हर्षवर्धन काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने बौद्ध तीर्थों के वर्णन में लिखा है कि वह कपिलवस्तु से रामग्राम होता हुआ आनोमा नदी के किनारे, जहाँ भगवान बुद्ध ने मुण्डन किया था (चन्दावली-गोरखपुर) गया । वहाँ से मयूर नगर होता हुँआ कुशीनगर पहुँचा । उस समय रामग्राम (गोरखपुर) में प्राचीन गुम्बज भग्नावशेषों के ढेर थे । हर्ष के पश्चात् भारत के राजनैतिक जगत में अराजकता उत्पन्न हो जाती है ।

राजपूतकाल

विक्रमी आठवीं शताब्दी से भारतीय राष्ट्र में एक नए युग का प्रारम्भ होता है । विश्रृंखलता के इस काल में नए-नए राजवंशों का उदय होता है,[7] जिनके वंशज अद्यावधि गोरखपुर जनपद में विद्यमान हैं । कनौज के प्रतिहार वंशी नरेश मिहिरभोज के काल का एक ताम्रपट्ट इस जनपद के धुरियापार परगना के कहला (हाटा बाजार) गाँव से प्राप्त है ।[8] इसमें दाता का नाम सोढ़देव है, जिसके नवें पूर्वज कलचुरि वंशीय सामन्त गुणाम्भोधिदेव को भोज से यहाँ पट भूमि मिली थी । डॉ० श्रीराम गोयल का कथन है कि सरयूपार कलचुरि शाखा का संस्थापक लक्ष्मण प्रथम (८वीं शदी) था, जिसके उत्तराधिकारी कोक्कल ने प्रतिहार सामन्तरूप में बंगाल के पालों से युद्ध किया था ।[9] इससे यह ज्ञात होता है कि चेदि के कलचुरियों के अधीन

---

[1] वायुपुराण—'अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा । एतान जनपदान सर्वान् मोक्ष्यन्ते गुप्त वंशजाः" ।।

[2] फाह्यान यात्रा वर्णन (लिजे) ।

[3] आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट, १९१०–११, पृ० ६२–६३ ।

[4] फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिपशनस, सं० १५ ।

[5] एपिग्राफिया इंडिका, भाग २१, पृ० ७३–७४, फ्लीट, तथैव, सं० ५१ ।

[6] एपिग्राफिया इंडिका, भाग १, पृ० ७२–७३ ।

[7] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया; कर्नल टाड, राजस्थान; वी० ए० स्मिथ, अर्लीहिस्ट्री आफ इण्डिया; ओझा, राजपूताना का इतिहास; चन्द वरदाई कृत पृथ्वीराज रासो; कल्हण कृत राजतरंगिणी, आदि ।

[8] एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ७, पृ० ८५-९३ ।

[9] डा० श्रीराम गोयल, 'पूर्वा' १९६९; 'हिस्ट्री आफ दि सरयूपारीज' पृ० ३० ।

यह जनपद कुछ काल तक रहा। प्रतिहार वंश के राजपूत (प्रतिहार-परिवार-पलिवार) 'परिवार' रूप में गोरखपुर जनपद में आज भी वर्तमान हैं।

उत्तरी भारत में सत्त-स्थापना-संघर्ष में काशी के गाहड़वाल वंश ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख, दोनवुजर्ग (भैरवा) का ताम्र अभिलेख, पाली (बांसगांव) का ताम्र अभिलेख, जिसमें उनवल (बांसगाँव) का उल्लेख है, तथा गगहा (बांसगाँव) का ताम्र अभिलेख, गोविन्दचन्द्र गहड़वाल से सम्बन्धित, गोरखपुर जनपद में प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि गाहड़वाल वंश के अधीन यह जनपद १११९ वि० में रहा। जयचन्द्र के काल तक गोरखपुर जनपद कन्नौज के अधीन था। जयचन्द्र के काल में भी उसके राज्य-सीमा[1] में गोरखपुर जनपद था।

प्रतिरक्षा काल

बाह्य (तुर्क) आक्रमण के कारण विघटित विभिन्न राजपूत शक्तियाँ अपने-अपने राजनैतिक केन्द्रों के रक्षा की दृष्टि से प्रतिरक्षात्मक विधि से अपने राज्य, समाज, अर्थ, धर्म एवं संस्कृति के लिए संघर्ष रत रहे। ११९४ई० में शहाबुद्दीन गोरी के कन्नौज पर आक्रमण से गाहड़वालों की शक्ति बिखर गई। परिणामतः तुर्कों के अत्याचार, अपहरण, मूर्ति-मन्दिर-भंजन, धर्मान्तिरण, अग्निदहन, बाल-वृद्ध-वनिता दमन आदि की नितान्त नवीन नीति से हिन्दू आश्चर्य चकित एवं विमूढ़ होकर प्रतिरक्षात्मक नीति से गोरी का प्रतिरोध करने लगे। गोरखपुर जनपद गोरी के आक्रमण से अप्रभावित रहा। तुर्क आक्रमण से पश्चिमोत्तर के अनेक राजपूत राजवंश इस सुरक्षित जनपद में आकर बस गए। गोरी के गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक के काल की कोई घटना इस जनपद से सम्बद्ध नहीं है। किन्तु गोरखपुर जनपद को दिल्ली सुलतान के अधीन अवध सूबे में समझा जाता था। गोरी से बलबन काल तक गोरखपुर जनपद घटना रहित था क्योंकि किसी सैनिक छावनी या शासकीय राजधानी की स्थापना इस जनपद में तुर्कों ने नहीं किया था। इससे यह ज्ञात होता है कि स्थानीय क्षत्रियवंश यहाँ स्वतंत्रता पूर्वक राज्य कर रहे थे। मात्र कर देते रहे होंगे।[2]

गोरक्षनाथ–गोरखनाथ–गोरखपुर

गोरखनाथ के जन्मस्थान तथा समय का निर्धारण करना कठिन कर्म है। परन्तु महाराष्ट्रीय सन्त ज्ञानदेव (वि० स० १३५८) से ज्ञात होता है[3] कि वे अपने को नाथपंथी और गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में मानते थे। इसी आधर पर गोरखनाथ का समय १३वीं शताब्दी ई० स्वीकार की जा सकती है। १३ वीं शताब्दी में ही जिस स्थान पर उन्होंने समाधि लिया था, उसके आस-पास के स्थान को गोरखनाथ कहा जाने लगा। आज भी गोरखनाथ नामक एक मुहल्ला पुराने गोरखपुर में स्थित है। श्रीनेत राजवंश के राजकुमारों में संघर्ष होने के कारण एक राजकुमार ने समाधि के पास नगर स्थापित कर तपस्वी गोरखनाथ के नाम पर नगरी का नाम गोरखपुर रखा। गोरखपुर नगरी के क्रमशः विस्तार के साथ ही इस जनपद का नाम गोरखपुर हुआ।

अलाउद्दीन खिलजी के समय यह जनपद अवध के अन्तर्गत था। फिरोजशाह तुगलक बंगाल जाते समय गोरखपुर तक पहुँचा था, जिसे उपहार देकर, इलियास शाह के ऊपर अक्रमण में यहाँ के क्षत्रियों ने सहयोग देकर,[4] प्रतिरक्षात्मक नीति का सहारा लिया। बाँसगाँव के कौशिक राजवंश की धुरियापार से ऐसे कुछ कागजात प्राप्त हुए हैं जिनसे धुरियापार तथा जौनपुर के शर्कीवंश के दैनिक सम्बन्ध में सूचित होता है कि दिल्ली के सुलतानों एवं जौनपुर के मध्य संघर्ष था। अतः शर्कीशासक धुरियापार के शक्तिशाली क्षत्रियों को प्रसन्न रखने के लिए मैत्री सम्बन्ध बनाए हुए थे। सैयद, लोदी और सूर वंश के शासकों के काल में भी यहाँ कोई सैनिक छावनी या राजधानी स्थापित

---

१. कामिलुत्तवारीख–इलियट–हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द २, पृ० २५१।

२. डा० श्रीराम गोयल, तथैव, पृ० ३१।

३. अमृतानुभव।

४. इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० २२४।

नहीं हुई, स्थानीय शासक मात्र कर देते थे, परन्तु वे प्रायः स्वतंत्र थे ।

मुगल आक्रमणकारियों ने यहाँ के अफगान शासकों से संघर्ष में अकबर के काल में (१५५९ ई०), फिदाईखाँ को समाप्त कर सम्पूर्ण गोरखपुर जनपद पर अधिकार किया ।[1] अकबर के काल से इस जनपद का नाम गोरखपुर सरकार पड़ा तथा लखनऊ के नवाबों से और अंग्रेजों के समय से अद्यावधि गोरखपुर नाम चला आ रहा है । टोडरमल के नेतृत्व की मुगल सेना का प्रथम प्रतिरोध धुरियापार के कौशिकों ने किया, तदनन्तर मझौली के मल्लों ने किया । परन्तु दोनों के आत्मसमर्पण से अकबर ने इन क्षत्रिय वंशों का राज्य लौटा दिया और वे अकबर के कर दाता हो गए । गोरखपुर नगर के सतासी के श्रीनेत क्षत्रियों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार न कर युद्ध किया और पराजित होकर नगर त्याग दिया । परिणामतः प्रथम बार गोरखपुर में सैनिक छावनी स्थापित कर मुगलों ने जनपद पर अपना अधिकार बनाए रखा ।[2] इसी समय से गोरखपुर की प्रसिद्धि बढ़ी और ताँबे के सिक्कों का सरकारी टकसाल यहाँ खुला । जहाँगीर के काल तक मुगल अधिकार यहाँ बना रहा । परन्तु अफजल खाँ के मरने पर १६२५ ई० से बांसी-सतासी के श्रीनेत तथा स्थानीय राजवंशों ने एक साथ गोरखपुर पर आक्रमण कर मुगलों को निकाल बाहर किया और स्वतन्त्र हो गए तथा कर देना बन्द कर दिया । औरंगजेब ने काजी खलीलुर्रहमान को भेजकर यहाँ पुनः मुगल सत्ता स्थापित किया । परन्तु मुअज्जम को यहाँ के संघर्षशील राजाओं को आन्तरिक अधिकार एवं सेना रखने का अधिकार देकर अपना अधिपत्य स्वीकार करा कर, सरकारी मालगुजारी वसूल करके सन्तुष्ट रहना पड़ा ।

●

---

[1] इलियट-हिस्ट्री आफ इंडिया, जि० ५, पृ० ३०१–३०३, ३०७ ।

[2] तत्रैव, जि० ६, पृ० ३९ ।

१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में हमीरपुर जनपद का योगदान

गुलाब सिंह परिहार*

बुन्देलखण्ड के झाँसी मण्डल के आधुनिक पांच जनपदों में से हमीरपुर एक है। वीर छत्रसाल बुन्देल इसी जनपद में उत्पन्न हुए थे। बुन्देलखण्ड के स्वातन्त्रता संग्राम में इन्हीं महारज छत्रसाल की बाजीराव पेशवा ने मुगलों के विरुद्ध सहायता की थी। बुन्देलावीर छत्रसाल ने इस सहयोग के उपलक्ष्य में बाजीराव पेशवा को अपने राज्य का तीसरा भाग देने का आश्वासन दिया था। शेष दो भाग पन्ना राज्य के महाराज हृदयशाह और जगतराज को मिले। जगतराज ने सुरक्षा की दृष्टि से जनपद हमीरपुर के कुलपहाड़ स्थित ग्राम जैतपुर (जयतिपुर), उत्तर-प्रदेश को अपनी राजधानी बनाया।[1] महाराज जगतराज की चौथी पीढ़ी में नरशार्दूल, रणकुशल छत्रसाल-कुल-भूषण महाराज परीक्षित (पारीक्षत) हुए जिनके पिता का नाम केशरीसिंह था।[2]

स्वतंत्र्य युद्ध का श्री गणेश

अपने पिता के देहावसान के बाद जब वीर शिरोमणि महाराज पारीक्षत ने शासन सम्भाला तब उन्होंने बुन्देलखण्ड को अंग्रेजों से मुक्त करने का दृढ़ संकल्प किया क्योंकि अंग्रेजों ने उनके पिता को लालच देकर अपनी ओर मिला लिया था और सन् १८१२ ई० में एक प्रमाणपत्र दे दिया था। विक्रमी सम्वत् १८९३ चैत्र तदनुसार ई० सन् १८३६ के मार्च का प्रारम्भ हुआ। चरखारी महाराज रतनसिंह की ओर से सूपा ग्राम के बुढ़वा मंगल के अवसर पर प्रथम राजनैतिक कान्फ्रेंस बुलायी गयी। इस कान्फ्रेंस में बुन्देलखण्ड के ४२ राजा महाराजा, राव, जमीदार और साहसी एवं उत्साही राष्ट्र प्रेमी एकत्र हुए। सूपा ग्राम के इसी बुढ़वा मंगल के अवसर पर महाराज पारीक्षत के प्रस्ताव करने पर एकत्रित बुन्देलखण्डीय नृपवृन्द ने सर्वसम्मति से उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया और निश्चय किया कि यह बुन्देलखण्डीय प्रथम राजनैतिक कान्फ्रेंस आज सम्वत् १८९३ चैत्र कृष्ण मंगल को सूपा के मैदान में निश्चिय करती है कि या तो बुन्देलखण्ड से ही नहीं समस्त भारतवर्ष से इन श्वेतांगों को निकाल कर स्वराज्य स्थापित करेंगे या फिर बलिदान हो जायेंगे।[3] सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के पहले ही वीर बुन्देला पारीक्षत महाराज ने सन् १८४२ में अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम छेड़ दिया और उनका अंग्रेजों से प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध का श्रीगणेश तहसील राठ स्थित ग्राम बिलगाँव के मैदान में हुआ और इस युद्ध में महाराज पारीक्षत विजयी हुए। अंग्रेजी कमान्डर कर्नल वेलेसली और मेजर स्लीमैन पराजित हुए। अतः यह कहना उचित ही होगा कि भारतीय स्वतन्त्रता के सर्व प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का श्रीगणेश जनपद हमीरपुर के सूपा और चरखारी के बीच के मैदान में हुआ और इस संग्राम के नायक जैतपुर नरेश महाराज पारीक्षत थे। सन् १८५७ का विद्रोह में महाराज पारीक्षत द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध सन् १८४२ में संग्राम छेड़ने की घटना प्रथम कड़ी ही कहा जायेगा जो समस्त भारत में व्यापक रूप से स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में उपस्थित हुई।[4]

---

* पठनऊ मुहाल, राठ, जिला हमीरपुर, उ० प्र०।

[1] ब्रह्मानन्द अभिनन्दन प्रन्थ, पृ० २२३।

[2] स्वतंत्रता का श्रीगणेश, पृ० ४०।

[3] तत्रैव।

[4] तत्रैव।

जनपद हमीरपुर में भी प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) की ज्वाला भड़की और १२ जून सन् १८५७ को रन्धी महल में हमीरपुर के ब्रिटिश अधिकारियों को खजाने की चाभियाँ देने से इन्कार कर दिया। खजाने का १,५०,०००|- रुपया लूट लिया गया। बावनी राज्य के मुख्य प्रशासक रहीमुद्दीन ने हमीरपुर के ब्रिटिश अधिकारियों से स्पष्ट कह दिया था कि वह और उनकी फौज अंग्रेजों का साथ न देगी और उन्होंने पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता संग्राम के क्रांतिकारियों का साथ दिया। हमीरपुर के क्रान्तिकारियों में रमेश्री निवासी श्री जवाहरसिंह बैस, गंगासिंह बैस क्षत्रिय तथा सुरोली बुजुर्ग और सुरोली खुर्द के निवासियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने हमीरपुर के खजाने को लूटा था। हमीरपुर नगर में स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात होते ही इस नगर के अंग्रेज निवासी सिर पर पैर रख कर पूर्व की ओर भागे। उन्होंने नाव के द्वारा यमुना नदी को पार करने का असफल प्रयास किया। वे स्वतन्त्रवा संग्राम सेनानियों द्वारा पराजित हुए। इस घाट का नाम अंग्रेज जिलाधिकारी कोलन, जो कि क्रान्तिकारियों द्वारा मृत्यु के घाट उतार दिया गया था, के नाम पर अंग्रेजों द्वारा कोलन घाट रखा गया। सूबेदार अलीबख्श नाना साहब के द्वारा इस नगर का प्रमुख शासनाधिकारी नियुक्त किया गया। यद्यपि यह नगर कुछ समय के लिए ही नाना साहब के अधिकार में आया था फिर भी उन्होंने बड़े संतोषजनक ढंग से यहाँ का शासन किया।[1] यह स्वतन्त्रता युद्ध जनपद की अन्य तहसीलों राठ, महोबा, मौदहा, चरखारी एवं कुलपहाड़ में भी फैल गया और कुछ समय के लिए सारा जिला ही स्वतन्त्र हो गया। हमीरपुर नगर में जब स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी देशभक्ति से प्रेरित होकर अपने प्राण हथेली पर रखकर फिरंगियों को निकालने का प्रयास कर रहे थे जिनमें रमेड़ी (हमीरपुर) के ठाकुर परिवार नेतृत्व कर रहे थे। उसी समय गनेशी लाल, अयोध्या प्रसाद, मथुरा प्रसाद-चौबेबन्धु-अंग्रेज जिलाधिकारी की एक मात्र शेष लड़की का लुक-छिप कर लालन-पालन कर रहे थे।[2] यह भारतीय इतिहास की बिडम्बना रही हैं कि यहाँ के कुछ निवासियों ने सदैव अपने लोगों से विश्वासघात करके शत्रु का साथ दिया है। इन देशद्रोही चौबेबन्धुओं ने उस लड़की को बरीपाल (कानपुर) निवासी बिहारी सिंह की बैलगाड़ी द्वारा कानपुर भिजवाया जिसके बदले में बिहारी सिंह को बिठूर व सवाई की जमीन्दारी तथा घाटमपुर की २४ घंटे के लिए तहसीलदारी दी गयी। विश्वासघाती चौबेबन्धुओं को जवाहरसिंह आदि की जायदाद छीनकर दे दी गयी। जवाहरसिंह सहित ९० स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों को, हमीरपुर पर पुनः आधिपत्य स्थापित करने के बाद, अंग्रेजों ने हमीरपुर के खिन्नीबाग में स्थित महुवा के पेड़ों में लटकाकर फांसी की सजा दी। खिन्नीबाग के महुवा के ये पेड़ कुछ वर्षों पूर्व गिर चुके हैं और अब वहाँ पर स्थानीय बालक्रीड़ा स्थल है।[3] श्री जवाहरसिंह, श्री रघुबरसिंह चंदेल के पिता के नाना होते थे। श्री रघुबरसिंह जी आजकल हमीरपुर नगरपालिका के वार्ड नंबर ८, मकान नम्बर ८८ में निवास कर रहे हैं। और श्री गंगासिंह के रिस्तेदारों में श्री अर्जुन सिंह, श्री करनसिंह आदि हैं। इनके परिवार के कालो सिंह ने वार्ड नम्बर ८ स्थित मकान नम्बर १९० श्री श्याम किशोर सिंह एडवोकेट को बेंच दिया है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि सन् १८५७ के पूर्व ही प्रथम अफगान युद्ध के समय १८४२ ई० में जैतपुर के राजा पारीक्षत ने फिरंगीयों को देश से निकालने का सर्वप्रथम प्रयास किया था। उनके विजयी होने के पश्चात चरखारी नरेश रतनसिंह ने जो कि उनके भतीजे होते थे, धोखा दिया और उनके साथ विश्वासघात किया। अतः बाद में महाराज पारीक्षत पराजित हुए और उनको जोरन के जंगल में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें कानपुर में ले जाकर हाता सबाईसिंह में बन्दी रक्खा गया। जैतपुर का राज्य दीवान खेतसिंह को दे दिया गया। १८४९ ई० में महाराज पारीक्षत की मृत्यु हो गयी। बाद में जैतपुर को कम्पनी सरकार ने अपने राज्य में मिला लिया।[4]

---

१. जिलागजेटियर १९७४, हरीश श्रीवांस्तव लिखित लेख।
२. वाद—राजकुमार आदि-जिलाजज, हमीरपुर
३. श्री रघुबरसिंह चंदेल तथा जिलागजेटियर से प्राप्त।
४. गजेटियर, पृष्ठ १५४।

महाराज पारीक्षत की विधवा रानी को अंग्रेज शासन की ओर से १,२०० रुपया मासिक पेंशन की व्यवस्था हुई क्योंकि अंग्रेज वीर शिरोमणि पारीक्षत की उत्कट देशभक्ति देखकर दंग रह गये थे। उनको भय था कि कहीं ऐसा न हो कि उनकी विधवा रानी उनके दिखाये गए मार्ग पर न चल पड़े। परन्तु जब १८५७ ई० में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की लहर जनपद हमीरपुर में दौड़ी तो स्व० महाराज पारीक्षत की वीरांगना रानी भी पीछे न रही। रानी के साथ जैतपुर के पड़ोस के कुछ जमींदार तथा देशपत नाम का एक व्यक्ति था। अंग्रेजों ने रानी को दबाने के लिए विश्वासघाती चारखारी के राजा की सेना भेजी। आठ दिन के छुट-फुट युद्ध के पश्चात् रानी को पराजित होना पड़ा और उन्हों ने टिहरी में जाकर शरण ली।[1]

× × ×

सन् १८५७ के क्रान्तिकारियों का साथ सवदल दऊआ नाम के एक सरदार ने दिया था जो चरखारी का निवासी था। चरखारी नरेश ने अंग्रेजों के प्रति स्वामिभक्ति दिखाने के लिए उसे प्राणदण्ड दे दिया था।[2]

× × ×

इसी जनपद की तहसील राठ स्थित ग्राम गोहाण्ड निवासी अमरसिंह के पुत्र गनेश महतों ने कालपी जाकर तात्याटोपे को आमन्त्रित किया क्योंकि गनेश महतों के पिता अमरसिंह को अंग्रेजों के पिट्ठू चरखारी नरेश रतनसिंह ने अभिवादन न करने के कारण बन्दी बना लिया था। साथ ही चरखारी के राजा ने स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने से इन्कार कर दिया था।[3] तात्या ने चरखारी पर हमला किया। यह आक्रमण तात्याटोपे ने जनवरी १८५८ ई० में ९०० सैनिक २०० घुड़सवार तथा ४ तोपें लेकर किया था। ११ दिन के युद्ध के बाद चरखारी पर तात्या का अधिकार हो गया। राजा से उसने २४ तोपें छीनी और ३ लाख युद्ध के खर्चें के लिए वसूल किये।[4]

तात्याटोपे तथा गनेश महतो द्वारा चरखारी पर डाले गये इस घेरे ने अंग्रेजों को आश्चर्य चकित कर दिया। अंग्रेज सेनापति ने जनरल ह्यू रोज को झांसी छोड़कर चरवारी नरेश की सहायतार्थ पहुँचने का आदेश दिया। किन्तु ह्यू रोज इस आज्ञा का पालन नहीं कर सका। अतः १ मार्च सन् १८५८ को चरखारी का किला स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों के हाथ में आ गया। अमरसिंह मुक्त हो गया। जिस पहाड़ पर तात्याटोपे ने विजय प्राप्त की थी वह रनजीत के नाम से आज भी विख्यात है। चरखारी का प्रबन्ध कुछ दिन करने के पश्चात् तात्याटोपे कालपी वापिस लौट गए और रतनसिंह ने अंग्रेजों की सहायता से अपना अधिपत्य जमा लिया।

●

---

[1] Deseription of Mutiny, p. 158।

[2] गजेटियर, पृष्ठ १५९।

[3] भारत में अंग्रेजी राज्य, श्री सुन्दरलालजी।

[4] गजेटियर, पृ० १५७।

कोशल की ऐतिहासिक परम्परा

विशुद्धानन्द पाठक*

प्राचीन काल से लेकर भारतीय इतिहास के अंग्रेजी युग के अन्त तक कोशल एक स्पष्ट राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक अथवा प्राशसनिक इकाई के रूप में प्रसिद्ध रहा है। यों तो इसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या का विवरण **अथर्ववेद** के समय से ही प्राप्त होता है किन्तु उत्तर वैदिक काल में लिखे जाने वाले **वाल्मीकि रामायण** में इसकी सर्वाधिक चर्चाएँ प्राप्त होती हैं। इन चर्चाओं के केन्द्र विन्दु हैं राम, जो पौराणिक परम्परा के अनुसार अयोध्या में प्रारम्भ होने वाले इक्ष्वाकु वंश के ६५ वें शासक थे। **वाल्मीकि रामायण** के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पौराणिक युग में जिस राम को विष्णु का अवतार माना जाने लगा, प्रारम्भ में एक अत्यन्त शक्तिशाली, धर्मप्राण, भारतीय संस्कृति के उन्नायक और उसकी अनेक मान्यताओं के प्रतीक मनुष्य के रूप में उनकी अभिव्यक्ति की गयी। अतः उनके अतिमानवीय स्वरूप को भारतीय धार्मिकता की एक अभिव्यक्ति मानते हुए इतिहास के विद्यार्थियों को उनके मानवीय और ऐतिहासिक पक्ष पर ही विशेष जोर देना चाहिए। **रामायण** और **महाभारत** के बाद बौद्ध साहित्य में कोशल जनपद की जितनी चर्चाएँ आतीं हैं, उतनी किसी भी अन्य जनपद की नहीं आती। पुराण ग्रंथ जिस रूप में आज प्राप्त होते हैं, वे प्रायः ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दियों से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों तक रचे गये। किन्तु उनकी मूल ऐतिहासिक परम्परा वैदिक युग में ही स्पष्ट हो चुकी थी। पुराणों की रचना का युग निर्धारण करने वाले विद्वानों ने **भविष्य, विष्णु, वायु, मार्कण्डेय** पुराणों में राम के, अयोध्या के अथवा वैसे अन्य धार्मिक नगरों के विवरण धार्मिक और आधिदैविक दृष्टि से ही किये गये हैं। प्राचीन पुराणों में अयोध्या और कोशल के ऐतिहासिक क्रम पर हा विशेष जोर दिया गया है। मौर्ययुग के बाद कोशल और अयोध्या से सम्बन्धित अनेकानेक अभिलेख और सिक्के भी प्राप्त होते हैं, जो मध्यदेश से शासन करने वाले प्रायः प्रत्येक राजवंश से उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं। मध्ययुग में जौनपुर के शर्की राजवंश के अन्तर्गत अयोध्या और कड़ा प्रांत एक प्रमुख प्राशासनिक इकाई के रूप में उभरता है। मुगल युग में फैजाबाद की स्थापना के बाद मुगलों के पतन के समय अवध के नवाबों द्वारा यह पुनः एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप में अवतरित हुआ, जो १८५७ के विप्लव के समय तक बना रहा। बाद में अंग्रेजो शासन ने आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त के एक भाग के रूप में इसे संगठित कर इसके प्राचीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और प्राशासनिक स्वरूप को बहुत कुछ अक्षण्ण बनाए रखा। लखनऊ, अयोध्या, फैजाबाद, जौनपुर, प्रतापगढ़, बहराइच, बस्ती, रायबरेली, गोण्डा, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बलिया आदि के आधुनिक जिले राजनीतिक कड़ियों के रूप में विभिन्न कालों में कोशल अथवा अवध का निर्माण करते थे।

प्राचीनता की दृष्टि से कोशल का राज्य भारतीय साहित्यिक और आनुश्रुतिक परम्पराओं में ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व से दिखायी देने लगता है। पौराणिक परम्पराओं में महाभारत का युद्ध इक्ष्वाकुवंश के ९४ वीं अथवा ६५ वीं पीढ़ी में होनेवाले बृहद्बल के समय हुआ था। इन सभी पीढ़ियों के विवरण प्रायः एक समान रूप से **विष्णु, वायु, ब्राह्माण्ड, भागवत, शिव** और **पद्मपुराणों** में प्राप्त होते हैं। यद्यपि यह आज भी सर्वसम्मत रूप से निश्चित नहीं है कि महाभारत का युद्ध कब लड़ा गया था किन्तु अब तक प्रायः विद्वानों की भिन्न-भिन्न रूपों में यह मान्यता रही है कि इसका समय १४०० ईसापूर्व से ६०० ईसापूर्व के बीच में कभी माना जाना चाहिए। यद्यपि डॉ० हँसमुख धीरज लाल संकालिया जैसे मूर्धन्य

---

* इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय पुरातत्वविद् ने महाभारत संबन्धी अपने अध्ययनों और अपनी खुदाइयों के आधार पर इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा विवाद उठा दिया है, यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में पुरातात्विक अन्वेषणों, सर्वेक्षणों, खुदाइयों, अथवा प्राप्तियों की अपनी अनेक सीमाएँ और कमजोरियाँ हैं। इनमें जो प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त की गयी हैं, उनके आधार पर अलग-अलग विद्वानों ने एक ही प्राचीन स्थल के सम्बन्ध में, विशेषतः तिथियों से सम्बन्धित, अलग-अलग निर्णय निकाले हैं। साथ ही, न तो इन खुदाइयों को पूर्ण माना जा सकता है, और न यही स्वीकार किया जा सकता है कि प्रगाढ़ वर्षा, भीषण बाढ़ और भयंकर गर्मी से प्रभावित अपने दोनों किनारों तक दूर-दूर तक कटाव करती हुई घटती-बढ़ती रहनेवाली भारतवर्ष की विभिन्न नदियों के किनारे बसे हुए विभिन्न नगर वहीं स्थित हैं जहाँ वे प्राचीन काल में थे, अथवा प्राचीनकाल के नगरों के सभी स्तर अथवा उनकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाली सभी वस्तुएँ हमें पूरे रूप में प्राप्त ही हो गयी हैं। अतः अयोध्या में जो आधुनिक खुदाइयाँ हुई हैं, उनके आधार पर प्राचीन अयोध्या की प्राचीनता का कोई अन्तिम निश्चय कर सकना अभी बड़ा कठिन है। सरयू अथवा घाघरा एक ऐसी नदी है, जो अपने भीषण कटानों और कोसों तक इधर-उधर चले जाने के लिए प्रसिद्ध है। बौद्ध साहित्य में यह विवरण आता है कि बौद्ध कालीन कोशल की राजधानी श्रावस्ती अचिरावती अथवा राप्ती नदी के बिलकुल किनारे बसी हुई थी और कोशल राज प्रसेनजति अपने महल की छत से उसके जल को देखा करता था। किन्तु आज राप्ती नदी श्रावस्ती के आधुनिक रूप सहेत-महेत से लगभग १२ मील की दूरी पर बहती है। सरयू तो और भी अधिक अपनी धाराओं को बदलती रहती है। मेरी दृष्टि में अयोध्या सम्बन्धी प्राचीन उत्खनन तब तक पूरे नहीं माने जा सकते जब तक सरयू के पेटे में पड़ने वाले अथवा उसके जलीय क्षेत्र में निहित कुछ प्रतिनिधि स्थानों की भी किसी प्रकार खुदाई न की जाय। आधुनिक विज्ञान के युग में भूमिछेदन के माध्यम से इस प्रकार की खुदाई असम्भव नहीं होनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में विदेशी अथवा देशीय इतिहासविदों की इस दृष्टि का समर्थन कठिन प्रतीत होता है कि, जबतक पुरातात्त्विक उत्खननों से प्रमाणित न हो जाय, अयोध्या और कोशल सम्बन्धी साहित्यिक एवं आनुश्रुतिक विवरणों में लक्षित उसकी प्राचीनता को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। पौराणिक परम्पराओं के अनुसार महाभारत युद्ध तक के इक्ष्वाकु वंशीय कोशल के ९५ राजाओं की प्रत्येक पीढ़ी के लिए यदि १५–२० वर्षों का भी औसत समय माना जाय तो मनु अथवा इक्ष्वाकु का समय लगभग ३००० ईसापूर्व बैठता है। भारतीय साहित्यिक और आनुश्रुतिक परम्परानुसार मनु भारतवर्ष के सर्वप्रथम शासक थे। महाभारत युद्ध के बाद ३१०२ ईसापूर्व से ज्योतिष सम्बन्धी जो काल गणना कलियुग के प्रारम्भ के सम्बन्ध में आगे चलाई गयी उसकी ऐतिहासिक सत्यता कितनी है, यह विवाद का विषय हो सकता है। क्या ऐसा तो नहीं है कि किन्हीं कारणों वश मनु अथवा इक्ष्वाकु के ३००० ईसापूर्व के आसपास की यह तिथि, और कलियुग के प्रारम्भ के ३१०२ ईसापूर्व की तिथि के बीच कोई आपसी घालमेल हो गया? किन्तु जबतक सभी दृष्टियों से पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाते तबतक इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय कर सकना निरापद न होगा।

कोशल के इतिहास का महत्त्व जितना राजनीकि है उससे भी अधिक सांस्कृतिक और सामाजिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य में उत्तरी-भारतवर्ष की वैदिक और उत्तर-पूर्वी भारतवर्ष की अवैदिक संस्कृतियों के सम्मेलन के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होने लगते हैं। विदेघमाधव जैसे ऋषियों की उत्तर-पूर्वी यात्राएँ, सरयू और सदानीरा के उल्लेख, कोशल, अंग, मगध और मिथिला की चर्चाएँ और सूर्यवंश की अनेक शाखाओं के पूर्वी भारतवर्ष में होने की पौराणिक परम्पराएँ भारतीय संस्कृति के उस विशेष पक्ष से जुड़ी हुई हैं, जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के सम्मिलन के स्पष्ट दर्शन होते हैं। ईसापूर्व छठीं शताब्दी के लगभग अध्योध्या, श्रावस्ती तथा आस-पास के अन्यस्थ नगर उस समय के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक चिन्तन के केन्द्र बन चुके थे। किन्तु इस प्रकार के गम्भीर चिन्तन का मुख्य आधार था उन नगरों की आर्थिक सम्पन्नता। महावीर और बुद्ध के समय तक पश्चिमी भारत में प्रतिष्ठान (आजकल का पैठन) और भृगुकच्छ से

उज्जैन, मथुरा, कौशाम्बी, सोरेय्य, साकेत, अयोध्या, कीरागिरि (जौनपुर का केराकत), श्रावस्ती, कपिलवस्तु, पावा, चम्पा, वैशाली, पाटलिपुत्र से होकर विभिन्न व्यापारिक मार्ग अथवा राजमार्ग पूरब में समुद्र के किनारे ताम्रलिप्ति (तामलुक) तक जाते थे, जहाँ से समुद्री रास्तों से होकर व्यापार सुवर्णद्वीप तक होता था। इसी प्रकार उत्तर पश्चिम में वे तक्षशिला तक पहुंचते थे। सार्थों, रथों, सार्थवाहों, इन मार्गों की कठिनाइयों, कहीं-कहीं चोर-डाकुओं के आतंक तथा मार्ग में पड़ने वाले भीषण गहन वनों अथवा जंगलों की चर्चाओं से बौद्ध **त्रिपिटक** भरा पड़ा है। जैनों के उत्तर कालीन साहित्य में भी इन अनेकानेक नगरों और स्थानों की प्राचीन धार्मिकता और जैन तीर्थंकरों से उनके सम्बन्ध की चर्चाएँ प्रचुर रूप में आती है। बौद्ध साहित्य में एक विशेष परम्परा यह दिखायी देती है कि बुद्ध प्रायः ऐसे गाँवों में निवास करते हैं जिनके नाम ही वहाँ बहुतायत से पाये जाने वाले पेड़ों अथवा जंगलों पर पड़े हुए थे, जैसे—आम्रवन, वेणुवन, सिंसपरवन, जम्बुवन, शाकवन, केराकीवन इत्यादि। आज भी पूर्वी उत्तर-प्रदेश और विहार में बहुत संख्या में ऐसे गाँव पाये जाते हैं जिनके नामों में ये परम्पराएँ स्पष्ट दिखायी देती हैं, उदाहरण के लिए जमुई, जमुनहीं, सिसई, अमवाँ, महुअवाँ, तरकुलवाँ, उर्दिहवा, कटया, बबुरी, कटहरी, कटेहर, खजुरी सिसवरियाँ इत्यादि। उत्तर-पूर्वी भारतीय ग्रामों के इन नामों का अध्ययन शोध का एक बढ़िया विषय हो सकता है। जैसे इन नामों द्वारा स्पष्ट है, वैसे ही इन क्षेत्रों में उपजने वाले अनेक अन्नों के नामों और प्रयोग से भी स्पष्ट है कि किस प्रकार इस प्रदेश की संस्कृति उत्तर वैदिक काल से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक खेती अथवा राजनीतिक परिस्थियों द्वारा उत्पन्न परिवर्तनों के पूर्व तक प्रायः एक अविरल प्रवाह के रूप में बनी रही। पिछले २५-३० वर्षों में होने वाले भूमि सुधारों अथवा नयी खाद और विज्ञान से सम्भव खेती के परिवर्तित रूप के पूर्व यहाँ साँवा (श्यामक), कोदो (कोडव), चेना (चीनक), मटर (कलाप), बोरोधान, सरसों (सर्षप), तीसी (अतसी), कपास (कर्पास), मसूर, मूँग (मुद्ग) और उड़द (माष) की जो खेती बहुतायत से की जाती थी उसके विविध और व्यापक विवरण बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं। गाँवों के स्वरूप, ग्रामीणों की विभिन्न वृत्तियों के स्वरूप, ग्रामीणों के आपसी सम्बन्धों के स्वरूप, विभिन्न ग्रामों में भिन्न-भिन्न जातियों की प्रमुखता, कृषि के उपकरण, खेतों के प्रकार खेती-बारी का स्वरूप, आदि सभी चीजें अभी १०-२० वर्षों पूर्व तक प्रायः वही थीं जिनका स्पष्ट परिचय हमें **बौद्ध** ग्रन्थों से प्राप्त होता है। मोटे रूप में हम यह कह सकते है कि कोशल का प्राचीन सांस्कृतिक रूप भारतवर्ष के स्वतंत्र होने के पूर्व तक पूर्वी-उत्तर-प्रदेश में अक्षुण्ण बना रहा जिसके तन्तु और सम्बन्ध पूरब में चम्पा और वैशाली तक विस्तृत थे। यह उस जनपद के इतिहास, संस्कृति और जीवन की गतिशीलता के साथ उसकी अन्तर्निहित शक्ति और स्वामित्व का भी परिचायक है। कोशल जनपद जहाँ अनेक व्यापारिक मार्गों और उन मार्गों पर बसने वाले नगरों का केन्द्र था, वहीं यहाँ के कृषि और कृषि सम्बन्धी उद्योग बड़े विकसित रूप में बौद्ध साहित्य से परिलक्षित होते हैं। कुणाल जातक से यह स्पष्ट है कि रोहिणी जैसी छोटी-मोटी नदियों को बाँधों से बाँधकर सिंचाई के लिए जल का प्रबन्ध किया जाता था; और ईख की खेती भगवान बुद्ध के समय भी यहाँ प्रचुर मात्रा में होती थी। छोटी-छोटी नहरों से निकाली जाने वाली नालियों (कुल्याओं), खेतों की मेड़बन्दी, भूमि के बड़े-बड़े स्वामियों, खेतों को जोतने के लिए सैकड़ों हलों और नौकरों के स्वामी, भूमिमालिकों, वनों को काटकर खेती योग्य भूमि को अलग करने, गाँवों के पास के खेतों (गामखेत), खेतों में लगी हुई फसलों की रखवाली करने वाले लोगों, पशुओं और पशुपालकों सम्बन्धी विभिन्न विवरण **विनयपिटक** और **सुत्तपिटक** में कई स्थानों में आते हैं। इन सारी स्थितियों के तन्तु अभी हाल तक इस प्रदेश में प्राप्त थे। आज ही की तरह आज से ढाई-तीन हजार वर्ष पूर्व भी इस प्रदेश में धान और ईख की खेती बहुत बड़ी मात्रा में की जाती थी। इसमें व्रीहि, शक्ति और शक्तिशाली, की चर्चाएँ तो प्राप्त होता ही है, चावल उत्पन्न करने वाली अन्य फसलों—चीनक, कोद्रव, और श्यामक के उल्लेख भी बार-बार प्राप्त होते हैं। कोशल में स्थित और उसके साम्राज्यवाद के समय उसकी अधिसत्ता स्वीकार करने वाले गणतंत्रों की तो विशेषता ही यही थी कि वे कृषि कार्य में निष्णात और

पूरी प्रकार लगे हुए थे। **विनयपिटक** में बुद्ध के चचेरे भाई भद्दिय के अपने खेतों में जाने और कृषि कार्यों के निरीक्षण करने की चर्चा आती है। एक स्थान पर बुद्ध के भी अपने खेतों के किनारे जामुन के पेड़ों के नीचे बैठकर कृषि-कार्य के विभिन्न क्रमों का निरीक्षण करने की चर्चा प्राप्त होती है। इसी प्रकार मल्ल गणतंत्र भी कृषि कर्मों में विशेष रूप से लगा हुआ प्रतीत होता है। बौद्ध-कालीन मल्ल गणतंत्र की दोनों शाखाओं के प्रतिनिधि और उनके वंशज आज भी देवरिया और आजमगढ़ जिलों में बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। आजमगढ़ जिले में आज भी कई गावों का एक ऐसा सामूहिक क्षेत्र है, जिसे 'मलान' कहते हैं। यह 'मलान' मल्लों के क्षेत्र का द्योतक है। ये लोग प्राचीन मल्लों के वंशज-प्रतिनिधि हैं। जो इस बात से भी स्पष्ट है कि वे अपने को मोटे रूप में 'सैंथवार' की संज्ञा देते हैं। 'सैंथवार' शब्द गणतंत्रों की ग्रामीण और केन्द्रीय सभाओं-संस्थागार का आधुनिक तद्भव रूप है। आधुनिक मल्ल अथवा 'सैंथवार' लोग खेती के कार्यों में अपनी दक्षता, तत्सम्बन्धी मेहनत, कृषि के माध्यम से उत्पन्न सम्पत्ति, और भू-स्वामित्व सम्बन्धी अपनी प्रतिष्ठा के लिये बहुश्रुत हैं। बड़ा स्पष्ट है कि कोशल जनपद में कृषि कार्यों और उनसे उत्पन्न सम्पन्नता का क्रम पिछले तीन-चार हजार वर्षों से अनवरत रूप से चला आ रहा है। कोशल में और कोशल के चारों ओर विभिन्न व्यापारिक केन्द्र थे, जहाँ की व्यापारिक वस्तुओं की चर्चाएँ **त्रिपिटक** में यत्र-तत्र- सर्वत्र आती हैं। काशी के रेशमी और ऊनी वस्त्र, काठ के खिलौने, पीतल के बर्तन, और हाथीदांत की वस्तुएँ बड़ी प्रसिद्ध थीं। इसी प्रकार कोशल में भी ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्रों का निर्माण होता था। अलसी की छाल, केले की छाल, भेड़ों के ऊन आदि से बनने वाले रेशमी और ऊनी वस्त्रों अथवा कम्बलों की चर्चाएँ **त्रिपिटक** के अनेक स्थानों से प्राप्त होती है। इस प्रदेश के बने हुये 'दुस्स' (दुस्सः सौम-दुस्स, कर्पासदुस्स) अर्थात् कम्बल बहुत प्रसिद्ध थे। बड़ा स्पष्ट है कि भेड़ों और अन्य प्रकार के ऊनों को देने वाले पशुओं का पालन, कपास की खेती, इनसे बनाये जाने वाले सूत, और उनकी कताई-बुनाई से सम्बद्ध उद्योग और व्यापार अच्छी मात्रा में प्रचलित रहे होंगे। भारतीय इतिहास के अंग्रेजी युग के अन्त तक बस्ती जिले के एक प्रसिद्ध स्थान मगहर का 'गाढ़ा' नामक एक मोटा सूती वस्त्र बड़ा प्रसिद्ध था, जिसकी जाड़े के दिनों में शीत और ठंडक से निपटने के लिये बहुत बडी माँग थी। किन्तु देश के कई अन्य भागों की तरह मिलों द्वारा कताई और बुनाई के आधुनिक युग में हाथ की कताई और करघे की बुनाई का यह प्राचीन पूर्वोत्तर प्रदेशीय वस्त्रोद्योग भी समाप्त हो गया। प्रसिद्ध मध्यकालीन संत कबीरदास का नाम परम्परागत रूप में इस उद्योग के साथ तथा मगहर के साथ आज भी जुडा हुआ है।

कोशल जनपद का इतिहास भारतीय इतिहास के अनेक सांस्कृतिक पक्षों, प्रवृत्तियों और धाराओं से भी जुड़ा हुआ है। पीछे हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति प्राचीन कोशल की राजधानी अयोध्या को इस देश के सर्वप्रथम राजवंश (सूर्यवंश) से जोड़ती है। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु उसके प्रथम पुरुष बताए गये। और मनु की पुत्री इला के विवाह सम्बन्ध से प्रतिष्ठान के चन्द्रवंश की गिनती प्रारम्भ की गई। इस परम्पपरा में मान्धाता, सगर-भगीरथ, दशरथ-राम, हिरण्यनाभकौशल, और महाकोशल-प्रसेनजित जैसे अनेक प्रसिद्ध पुरुषों से प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास-कथा एवं विभिन्न ऐतिहासिक काल क्रमों की घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। सतयुग त्रेता, द्वापर, और कलियुग जैसे युगों की गणना इनमें से अनेक के साथ अलग-अलग प्रारम्भ की जाती हैं। चाहे प्राचीन भारतीय गणना से सम्बन्धित ये युग काल्पनिक हों या वास्तविक, प्रत्येक युग में बीतने वाले वर्षो की संख्या चाहे कितनी भी अतिरंजित लगे, आज उन वर्षो की संख्याओं का निर्णय हो सके या न हो सके, यह निश्चित है कि भारतीय जनमानस में मान्धाता, हरिश्चद्र-रोहित, सगर-भगीरथ, दशरथ-राम विभिन्न युगों के प्रवर्तक माने गये। अत्यन्त सम्भव है कि इन महान शासकों की दूर-दूर तक की जाने वाली विजयें उनके कुछ अतिमानवीय कार्य, भारतीय संस्कृति का दूर-दूर तक प्रसार तथा मान्यताओं के पीछे मूल कारण के रूप में रहीं। किन्तु कोशल के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास का उसके प्राचीन कालीन महिमा मात्र पर निर्धारण हो, ऐसा नहीं है। महाभारत युद्ध के बाद हिरण्यनाभकौशल्य कोशल के

राजवंश में एक महाप्रतापी शासक हुआ जो वैदिक यज्ञ यागों में अत्यन्त ही अनुरक्त था। तथापि थोड़े समय के लिए कोशल की राजशक्ति इस युग में क्षीण हो गयी थी। किन्तु शीघ्र ही महाकोशल-प्रसेनजित जैसे कुछ शक्तिशाली शासकों ने उसे पुनः साम्राज्यवाद के पथ पर अग्रसर कर दिया। काशी को जीतकर उसने अपने में आत्मसात् कर लिया और मगध के विरुद्ध साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में जुट गया। यद्यपि अन्ततः इस प्रतिस्पर्धा में मगध बीस पड़ा तथा अजातशत्रु के समय से वह एकान्तिक रूप में उत्तर भारतवर्ष की सर्वप्रमुख सत्ता बन गया। सुमित्र के समय के बाद अन्तः कोशल भी उसका एक भाग हो गया। तथापि मगध के एक भाग के रूप में भी प्राचीन कोशल की अनेक सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रवृत्तियाँ यथावत् अग्रसर होती रहीं।

भारतीय इतिहास को कोशल महाजनपद की सर्वाधिक गौरवशाली देन प्राचीन भारतीय इतिहास की लोकतांत्रिक परम्परा है। इस लोकतांत्रिक परम्परा के सबसे बड़े प्रतीक थे गौतम बुद्ध जिनके उदय से धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति के क्षेत्रों में एक नया अध्याय ही प्रारम्भ होता है। उनके समय के पूर्व से ही आठ ऐसे गणतंत्र थे जो पूर्णतः लोकतान्त्रिक पद्धति के द्वारा प्रशासित होते थे। कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, कुसिनारा के मल्ल, पावा के मल्ल, और पिप्पलिवन के मोरिय इन गणतंत्रों में मुख्य थे। यद्यपि इन गणतन्त्रों की केन्द्रीय सभाओं के सदस्यों की संज्ञा राजा होती थी, इनका शासन राजतंत्रात्मक नहीं था। आपितु, 'राजा' की उपाधि धारण करने वाले (राजा-शब्दोपजीविन्) इन संघों अथवा गणों का एक चुना हुआ प्रधान होता था। उस प्रधान की सहायता करने के लिए 'उपराजा', 'सेनापति' 'भाण्डागारिक' और 'अष्टकुलक' जैसे विभिन्न अधिकारियों का एक संगठन होता था। उनकी चुनी हुई 'संस्थागार' नामक एक केन्द्रीय संस्था होती थी। उस संस्था की कार्यवाही एक निश्चित पद्धति से होती थी। उसकी कार्यवाहियाँ और निर्णय बहस-मुबाहिसे के माध्यम से मतदान (छन्द) की पद्धति द्वारा बहुमत के अधार पर (यद्भूयसिकाक्रिया) और कभी-कभी इन निर्णयों को सुविवेचित रूप में करने के लिए प्रवर समितियों ('उब्वाहिका' अथवा 'उद्वाहिका') को सौंप दिया जाता था। **विनयपिटक** के तत्सम्बन्धी विवरणों के आधार पर प्रसिद्ध भारतीय पुराविद् स्वर्गीय डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने आज से लगभग ६०-७० वर्ष पूर्व भारतवर्ष की इन केन्द्रीय लोकतान्त्रिक संस्थाओं की तुलना जापानी पार्लियामेंट (डाइट) अथवा अंग्रेजी पार्लियामेंट और उनकी नकल पर योरोप के विभिन्न देशों में कार्यरत संसदों से की थी। शाक्य गणतन्त्र में प्रचलित इस लोकतांत्रिक पद्धति के सबसे बड़े प्रतीक थे गौतम बुद्ध, जिनके बौद्ध सघं में विभिन्न धार्मिक विषयों के निर्णय के पूर्व वाद-विवाद, मतदान द्वारा निर्णय, संघ में मतदान कराने के लिए विभिन्न रंगों की शलाकाओं का उपयोग, उन शलाकाओं को इक्ट्ठा करने वाले शलाकाग्राहकों की स्थिति, शलाकाग्राहकों की योग्यता सम्बन्धी विवेचन, उप समितियों अथवा प्रवर समितियों द्वारा विषयों के विवेचन और विषयों को उपस्थित करने की विभिन्न विधियों की एक बड़ी स्पष्ट और विशद चर्चा **विनयपिटक** में आती है। आधुनिक विद्वानों की प्रायः यह सर्व सम्मत मान्यता है कि बुद्ध ने अपने बौद्ध संघ में प्रचलित लोकतांत्रिक पद्धति को सीधे-सीधे शाक्य गणतंत्र जैसे गणतंत्रों में प्रचलित केन्द्रीय सभाओं की पद्धतियों से यथावत अपना लिया था। उस राजतंत्रात्मक युग में इन गणतंत्रात्मक प्रवृत्तियों और शासन-पद्धति की स्थिति सचमुच ही भारतीय इतिहास का एक गौरवमय अध्याय है। उपर्युक्त सभी गणतंत्र राजतंत्रात्मक कोशल राज्य की अधिसत्ता, उसकी सत्ता के उत्कर्ष के समय, स्वीकार करते थे। किन्तु अपने आन्तरिक प्रशासन में वे सर्वथा स्वतंत्र थे और उनकी अपनी निजी और आत्मस्वतंत्र राजनीतिक और प्राशासनिक इकाईयाँ थीं। बड़ा स्पष्ट है कि उस समय राजराजतंत्रात्मक सत्ताओं के साथ ही गणतंत्रात्मक राज्यों की स्थिति एक राजनीतिक बहुलवाद के रूप का उदाहरण है।

कोशल महाजनपद का क्षेत्र उत्तर वैदिक युग से लेकर १९४२ तक अनेक क्रान्तिकारी आन्दोलनों का एक मुख्य क्षेत्र रहा है। जहाँ अत्यन्त आरम्भ में यह वैदिक और अवैदिक संस्कृति के आपसी सम्मिलन का क्षेत्र था, वहीं गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म को पक्षवाद और पशुबलि जैसी मान्यताओं, जन्मपरक तत्कालीन सामाजिक वर्ण

व्यवस्था और जाति सम्बन्धी कमजोरियों और स्पृश्या-स्पृश्य की भावनाओं जैसी अनेक कमजोरियों और कुरितियों पर कठोर आघात किया और स्वतन्त्र रूप में चिन्तन की गणतान्त्रिक परम्परा के आधार पर वैदिक परम्परा की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी। धार्मिक और सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में बुद्ध की यह चुनौती इस क्षेत्र की प्रथम और कदाचित सर्वप्रमुख क्रान्ति थी। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राजतन्त्रों के साथ-साथ समानता के सिद्धान्त के आधार पर चलने वाले गणतन्त्रों की स्थिति बुद्ध काल की एक अन्य प्रमुख राजनीतिक और प्राशासनिक प्रवृत्ति अथवा धारा थी। इन्हीं गणतन्त्रों के बीच में एक गणतन्त्र में चल कर चन्द्रगुप्त मौर्य उत्पन्न हुआ, जिसने छोटे-छोटे गणतन्त्रात्मक राज्यों की सैनिक और राजनीतिक कमजोरी को देखते हुए प्राचीन भारतवर्ष के सर्वशक्तिशाली साम्राज्य मगध की राजगद्दी को संभाला और प्रसिद्ध राजतन्त्रात्मक एवं साम्राज्यवादी मौर्य वंश का संस्थापक हुआ। उसका पौत्र अशोक कलिंग युद्ध के बाद शस्त्र-प्रयोग और विजय यात्राओं को त्याग कर एक ऐसा 'चक्रवर्तिन् धार्मिक धर्मराज' बन गया जिसके अनेक धम्म प्रचार सम्बन्धी क्रिया-कलापों से सम्पूर्ण भारतवर्ष ही नहीं अपितु आधुनिक अफगानिस्तान, फारस, अरब और मिस्र का क्षेत्र भी गूँज उठा। इन क्षेत्रों से इधर हाल में खरोष्ठी, सासानी-अरामाई, यूनानी-अरामाई और अरब अरामाई लिपि में लिखे हुए अशोक के अनेकानेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमें से कई उसके चतुर्दश शिलालेखों, लघु शिलालेखों और स्तम्भलेखों की प्रतिलिपि जान पड़ते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कार्माइकल प्रोफेसर डॉ० बी० एन० मुकर्जी के इन अभिलेखों सम्बन्धी अध्ययन बड़े महत्वपूर्ण हैं। यह कोशल महाजनपद की महत्ता का ही सूचक था कि यहीं से पुनः मौर्योत्तर काल में वैदिक प्रतिक्रिया का एक दूसरा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसका प्रतिनिधि प्रचारक शुङ्ग राजवंश था और जिसके प्रतिनिधि ग्रंथ थे **मनुस्तुति** तथा पतञ्जलि का **महाभाष्य**। धनदेव से प्रारम्भ होनेवाले अयोध्या मे प्राप्त सिक्के और अभिलेख के विषय उस वैदिक प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति के ही तन्तु थे। विदेशी आक्रान्ता यवन-बाख्त्रियों के इन क्षेत्रों पर होनेवाले आक्रमणो का परावर्तन विदेशी सत्ताओं के प्राचीन भारतीय प्रतिरोध के प्रतीक हैं। मध्ययुग में जौनपुर के शर्की राजवंश की स्वतन्त्रता अथवा उस युग के अन्त में अवध के नवाबों द्वारा इसकी स्वतन्त्र स्थिति को बनाए रखने के प्रयत्न इस क्षेत्र की स्वातन्त्र्य भावनाओं के प्रतीक हैं। १८५७ में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की सबसे प्रबल ज्वाला लखनऊ और कानपुर के आस-पास के क्षेत्रों में ही भड़की थी और कोशल भी उस ज्वाला में पूरी तरह धधका था। १९४२ ई० में महात्मागांधी द्वारा चलाए गये 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भूमिगत विद्रोह का सबसे बड़ा केन्द्र काशी-कोशल में ही था। काशी, बलिया, देवरिया, जिले का बरहज नामक कस्बा और गोरखपुर जैसे प्राचीन कोशल महाजनपद के अनेक क्षेत्र और स्थान, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, चित्तू पाण्डे, बाबा राघवदास जैसे अनेक भूमिगत नेताओं के क्रान्ति केन्द्र बन गये थे। १९२२ में चौरीचौरा का जो हत्याकाण्ड हुआ था, उसके पीछे अंग्रेजों के विरुद्ध हिंसात्मक और क्रान्तिकारी भावनाओं के जो अवशेष थे, वे अगस्त १९४२ के बाद की इन प्रदेशों में उभरने वाली अनेक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में देखे जा सकते हैं।

प्राचीन कोशल मोटे रूप में आधुनिक फैजाबाद, प्रतापगढ़ के कुछ भाग, जौनपुर, वाराणसी और गाजीपुर के जिलों के कुछ हिस्से आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, बस्ती, बहराइच और गोण्डा जिलों तक विस्तृत था। इन प्रदेशों में संख्या की दृष्टि से तो नहीं किन्तु सामाजिक और भौतिक सम्पत्ति के प्रमाण की दृष्टि से आज भी सरयूपारी ब्राह्मणों और सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी-मुख्यरूप से सूर्यवंशी क्षत्रियों का जोर है। इन सबके मूल कोशल के प्राचीन सांस्कृतिक और मानवजातीय परम्पराओं से स्पष्टतः जुड़े हुए दिखाई देते हैं। सरयूपारीय ब्राह्मणों के मुख्यस्थल गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, छपरा, गोपालगंज और सारन जिलों में पड़ते हैं। उक्त सभी स्थल सरयू नदी के उत्तर अथवा बायें किनारे पर पड़ते हैं। इनकी मूल परम्परा का विवरण **पद्मपुराण** में प्राप्त होता है जहाँ लंका-विजय से लौटने के बाद राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की पूर्णाहुति के समय इन क्षेत्रों को यज्ञ में लगे हुए ब्राह्मणों को दान में दिये जाने के उल्लेख हैं,

और जो अयोध्या के उत्तरी किनारे से बहने वाली सरयू नदी के पार पड़ने के कारण सरयूपारी क्षेत्र के ब्राह्मण कहलाये। इन सरवार ब्राह्मणों का उल्लेख करने वाला कदाचित् सबसे पहला अभिलेख १२ वीं शताब्दी का लार नामक कस्बे से प्राप्त है। इसमें गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल द्वारा ११४६ ई० में दिए गये दान का सन्दर्भ प्राप्त होता है। इन सअवरिया अथवा सरयूपारीय ब्राह्मणों के सभी प्रमुख स्थान अथवा आदि-स्थान सरयू नदी के उत्तर ही पड़ते हैं यथा—सोनौड़ा (बस्ती जिले में), धानी, सोहगौरा मामखोर, खखाइसखोर (सभी गोरखपुर जिले में), सिरजम धतुरा, पिण्डो, नदौली, पयासी (सभी देवरिया जिले में) जहाँ से इनके मुख्यवंश अपनी उत्पत्ति जोड़ते हैं। इन सभी स्थानों की स्थिति प्रायः नदियों के किनारे दुर्गम स्थानों में हैं जो कदाचित् इनके प्राचीन पुरुषों की तापस-वृत्ति, अध्ययन-अध्यापन में लीन-होने की प्रक्रिया और अत्यन्त थोड़े में ही गुजर कर अध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहने की परम्पराओं का द्योतक है। इस प्रदेश में क्षत्रिय कुलों और क्षत्रिय गाँवों की भरमार है जिनमें अधिकांश सूर्यवंशी हैं। इनके मूल अयोध्या के मूल क्षत्रिय कुल अथवा शाक्य, मल्ल और मोरिय जैसे प्राचीन सूर्यकुलीय क्षत्रिय कुलों से स्पष्टतः मिलाये जा सकते हैं। इनके इतिहास का एक बढ़िया अध्ययन इसी क्षेत्र के मूर्धन्य भारतीविद स्वर्गीय डा० राजबली पाण्डेय ने अपनी कृति **'गोरखपुर जनपद और उसके क्षत्रिय जातियों का इतिहास'** के माध्यम से १९५० ई० में किया था। पूरब में वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह अथवा ज्ञातृक जैसे राजवंश अथवा गणतन्त्र भी उसी सूर्यकुलीन क्षत्रिय परम्परा के प्रतिनिधि थे। इन ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त इस प्रदेश की जो भी जनसंख्या है - चाहे वह वैश्य हो, अथवा शूद्र उनकी आधुनिक जातिगत विशेषताएँ उनके उद्योग, शिल्प और ग्रामीण प्रतिष्ठान एवं स्वरूप उनकी नाम संज्ञाएँ और उनकी जीवन पद्धतियाँ बहुत कुछ बौद्ध ग्रन्थों में यथावत् ढूँढी जा सकती हैं। किन्तु यहाँ एक बात की ओर निर्देश करना अत्यन्त आवश्यक है कि स्वतन्त्र भारतवर्ष में वैज्ञानिक, सामाजिक और यातायात की सुविधाओं के कारण होने वाले परिवर्त्तनों तथा जातिगत व्यवसायों और संस्कारों एवं प्रवृत्तियों के शिथिल होने के साथ ही साथ इन सभी जातियों के जीवन के प्राचीन अथवा मध्यकालीन स्वरूप बड़ी तेजी से बदलते जा रहे हैं। इस दृष्टि से भी १९४७ ई० को भारतीय इतिहास में केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक युग-विभाजन तिथि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अयोध्या की आधुनिक खुदाइयों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उसकी प्राचीनतम बस्तियों का काल ८०० से ९०० ईसा पूर्व (डा० बी० बी० लाल) अथवा ७०० से ६०० ईसा पूर्व (डा० ए० के० नारायण) माना गया है। डा० रामशरण शर्मा ने जिन लगभग ५०० प्राचीन उत्तर-कृष्ण प्रमार्जित मृदभाण्ड (N.B.P.) युग के प्रतिनिधि स्थलों की गिनती की है, उनमें उनके मतानुसार लगभग ४०० से अधिक केवल पूर्वी उत्तर-प्रदेश में स्थित हैं। मोटे रूप में ये क्षेत्र प्राचीन कोशल महाजनपद के ही क्षेत्र हैं। अतः पुरातात्त्विक प्राप्तियों की सम्भावना की दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। निर्णय के रूप में यह बड़ा स्पष्ट दिखाई देता है कि यदि प्राचीन भारतीय पौराणिक अनुश्रुतियों की परम्पराओं को थोड़े समय के लिए आँख से ओझल भी कर दिया जाय, तब भी लगभग ८०० ईसा पूर्व से लेकर १९४७ तक कोशल के राजनितिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दिखाई देता है; जो केवल रामायण, महाभारत, पुराणों, अभिलेखों और सिक्कों से ही नहीं स्पष्ट होता, प्रत्युत इस क्षेत्र की भूमि के गर्भ में छिपी हुई अनेक वस्तुओं की अब प्रायः नित्यप्रति पुरातात्त्विक प्राप्तियों से भी प्रमाणित होता है।

●

अयोध्या और पुरातात्विक उत्खनन

ईश्वर शरण विश्वकर्मा*

वर्तमान काल में इतिहासकारों के मन में अयोध्या की पहचान और उसकी प्राचीनता के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उठ रहे हैं। ये सन्देह इतिहास की आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों का एक अवश्यभावी परिणाम माना जा सकता है। योरोपीय विद्वानों का ध्यान भारतीय इतिहास की ओर जब से गया, उन्होंने जहाँ एक ओर ऐतिहासिक श्रोतों के समुचित उपयोग के द्वारा इतिहास लेखन की परम्परा को जन्म दिया, वहीं उन्होंने हमारे पारम्परिक विश्वासों पर कुठाराघात भी किया। अयोध्या की पहचान के सम्बन्ध में कनिंघम और राइस डेविड्स ने अपने विचार व्यक्त किये तथा बौद्ध साहित्य में प्राप्त साक्ष्यों का अपने ढंग से भाष्य करके उन्होंने एक प्रकार से अन्तिम रूप से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अयोध्या और साकेत दो अलग-अलग स्थल थे। बी० सी० लाहा जैसे विद्वानों ने तो यहाँ तक लिखा है कि बौद्ध काल में अयोध्या एक महत्वहीन नगर था। लेकिन भारतीय परम्पराएँ ऐसा नहीं मानतीं। राम का आख्यान, इक्ष्वाकु वंश का इतिहास, वास्तव में भारतीय परम्परा के अनुसार, आर्यों के इतिहास के साथ-साथ अयोध्या के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। मनु और उनके पुत्रों की कर्म-भूमि अयोध्या ही रही है और यहीं से सूर्यवंश का विस्तार हुआ। यही नहीं आर्यों के दूसरे महत्त्वपूर्ण राजवंश, चन्द्र-वंश, का भी प्रारम्भ मनु की एक पुत्री इला के वंशजों से माना जाता है। इस प्रकार हमारे पारम्परिक इतिहास के मूल में अयोध्या का अस्तित्व वर्तमान है।

राम की कथा रामायण का मूल विषय है और उसमें अयोध्या एक धन-धान्य सम्पन्न, सुव्यवस्थित ढंग से बसायी गयी, सुन्दर नगरी के रूप में वर्णित है। भारतीय परम्परा में रामायण की कथा महाभारत की कथा से प्राचीन मानी जाती है। महाभारत की कथा में लीला-स्थल पश्चिम की ओर खिसक गये और वर्तमान पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली और हरियाणा के क्षेत्रों में महाभारत के प्रसंग अस्तित्व में आये। लेकिन वर्तमान पुरातात्विक उत्खननों में इस क्रम को ही बदल डालने का प्रयास किया गया है। स्वातन्त्र्य के पूर्व और उसके बाद के वर्षों में उत्तर भारत के ऐतिहासिक स्थलों की पुरातात्विक खुदाई की गई और उसमें से अनेक के उत्खनन-वृत्त संक्षिप्त रूप में तथा कुछ के विस्तृत रूप में प्रकाशित किये गये हैं। स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के भूतपूर्व महानिदेशक श्री ब्रजबासी लाल का ध्यान रामायण और महाभारत के स्थलों का पुरातात्विक अध्ययन करने की ओर गया। महाभारत के स्थलों पर तो उन्होंने पहले भी कुछ काम किया था, किन्तु इधर एक दशक से वे रामायण-स्थलों के कुछ प्रकल्पों पर काम कर रहे हैं। इसी बीच पूना के डकन कालेज के प्रो० हंसमुख धीरज संकालिया ने भी रामायण के स्थलों के बारे में कुछ प्रसंग उठाये और उन स्थलों को भौगोलिकता पर अपने मत व्यक्त किये, जिसके अनुसार रामायण की लंका का स्थान निश्चित करने का प्रयास किया। इस पर देश भर में विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया हुई। लेकिन यहाँ हम अपना ध्यान विशेष रूप से अयोध्या की ओर ही केन्द्रित करना चाहेंगे।

रामायण महाभारत, पुराणों तथा बौद्ध, जैन एवं अन्य भारतीय साहित्य में अयोध्या का ससम्मान वर्णन किया गया है। अयोध्या को कोशल की राजधाना कहा गया है और कोशल का इतिहास बहुत कुछ हद तक अयोध्या का इतिहास माना जाता है। यहाँ तक कि कुछ पुराणों में सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) और उनके पुत्र राहुल को भी अयोध्या के राजाओं की सूची में स्थान दिया गया है। रामायण काल से महाभारत काल तक और उसके बाद नंदवंश के समय तक के राजवंशों की सूचियों का तर्क संगत समन्वय डा० ए० डी० पुसालकर ने (The

---

* प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

vedic Age) करने का प्रयास किया है। लेकिन बुद्ध काल में कोशल की राजधानी अयोध्या थी अथवा श्रावस्ती यह एक विवाद का विषय बन गया है। कतिपय विद्वानों ने अयोध्या और श्रावस्ती को लेकर यह मान्यता व्यक्त की है कि इस समय कोशल दो राज्यों में बँट गया था। दक्षिणी कोशल की राजधानी अयोध्या और उत्तरी कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। जो भी हो हम बुद्ध के समय में काशी और कोशल दोनों को पारस्परिक प्रतिस्पर्धा करते हुए पाते हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि कभी कोशल काशी पर विजय प्राप्त करता था, तो कभी कोशल के राजा को काशी अपने अधीन कर लेता था। यदि हम भौगोलिक दृष्टि से काशी और कोशल के राज्यों पर दृष्टि डालें तो कोशल के उत्तरी और दक्षिणी भागों में बँटने की बात को तर्क संगत नहीं मान सकते। अयोध्या और श्रावस्ती अपेक्षाकृत बहुत समीप बसे हुए हैं, जबकि काशी अयोध्या के दक्षिण बहुत दूरी पर स्थित है। छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त कोशल का साम्राज्य विस्तार काशी तक तर्कसंगत नहीं दीखता। विशेषकर उस समय जब हम देखते हैं कि बुद्ध के समय में श्रावस्ती अधिक महत्त्वपूर्ण थी और उन्होंने अपने जीवन के सर्वाधिक वर्षाकाल वहीं पर बिताये। ऐसी स्थिति में कोशल को एक महत्त्वपूर्ण और बड़ा राज्य होना चाहिए, जिसकी दो राजधानियाँ मानी जा सकती हैं। बुद्ध के समय में काशी और उसके समीपस्थ सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, साकेत, पाटलीपुत्र, राजगृह, गया तथा वैशाली आदि महत्त्वपूर्ण स्थान थे। सौभाग्य से प्रायः इन सभी स्थलों की पुरातात्विक खुदाई हो चुकी हैं। लेकिन उसमें अयोध्या की खुदाई को सबसे कम महत्त्व दिया गया है।

१९६९–७० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग ने प्रो० अवध किशोर नारायण के नेतृत्व में अयोध्या में उत्खनन करवाया। इस उत्खनन को पूर्ण उत्खनन नहीं कह सकते क्योंकि एक ही सत्र के सीमितकाल में तीन विभिन्न स्थलों पर एक सीमित क्षेत्र को खोदकर सांस्कृतिक कालक्रम निर्धारित करने का प्रयास किया गया है :—पहला स्थल जैनधार के समीप दूसरा स्थल —लक्ष्मणटेकरी और तीसरा स्थल—नलटीला था। इन सीमित खुदाइयों में पहले दो स्थानों पर तीन सांस्कृतिक कालों का पता चला जिनमें से दो प्राचीनतम थे और एक दूसरी के बाद लगातार मिले थे और तीसरा सांस्कृतिक काल कुछ समय के व्यवधान के बाद उद्भूत हुआ था। इन उत्खनकों ने संस्कृतियों के सुनिश्चित इन तीनों कालों का निर्धारण नहीं किया। नलटीला के खुदाई में, जो अपेक्षाकृत निचले स्तर पर था, केवल दो सांस्कृतिक स्थलों के ही होने प्रमाण मिले हैं। इनमें उत्तर-कृष्ण-परिमार्जित मृदमाण्ड (N B P), अपरिमार्जित धूसर-मृदमाण्ड तथा अन्य सम्बद्ध रक्त मृदमाण्ड मिले हैं। अन्य वस्तुओं में ताम्बे, पत्थर, सीसे और मिट्टी के मनके ऊपरी स्तरों में, छः मिट्टी की मानव आकृतियों तथा अनेक पशु आकृतियां, जो भूरे रंग की हैं तथा अयोध्या के दो सिक्के मिले हैं। इनमें कुछ लोहे की वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त कुबेरटीला का भी सर्वेक्षण किया गया था, जिसके सम्बन्ध में कनिंघम का यह विचार था कि उसमें बुद्ध के धातु अवशेष हैं। यहाँ पर बड़ी आकार के ईंटों वाले एक निर्माण को भी खोदा गया जिसमें ईंटों का आकार ३९ × २३ × ६ सेमी० था। इसका निर्माण कई कालों में हुआ था।

प्रो०बी० बी०लाल ने अपने साथियों के साथ अयोध्या की जो खुदाई की उसका संक्षिप्त विवरण १९७६–७७ में प्रकाशित किया। उन्होंने सीता की रसोई में कुछ स्थल तथा राम जन्मभूमि और हनुमानगढ़ी के पश्चिम में स्थिति खुले स्थल पर खुदाई करवाई। इस खुदाई में उनको विभिन्न कालों की संस्कृतियों के जो क्रम मिले उनमें प्रारम्भिक बस्तियों से लेकर आगे तक के स्तर प्राप्त हुए हैं। उनका प्रारम्भ उत्तर-कृष्ण—परिमार्जित—मृदमाण्ड से होता है। इस मृदमाण्ड के कई रंग प्राप्त हुए हैं। सबसे निचले स्तर पर उत्तर कृष्ण प्रमार्जित मृदमाण्ड (N B P) के अतिरिक्त घूसरमाण्ड के कुछ टुकड़े भी मिले हैं जिनके ऊपर कच्चे रंग से चित्रकारी की गयी थी। श्रावस्ती, पिपरहवा, कौशांबी से प्राप्त इस प्रकार के भाण्डों की तुलना करने पर ऐसा लगता है कि चित्रित धूसरमृद-भाण्ड का यह भद्दा नमूना बाद का होगा तथा हस्तिनापुर मथुरा, अहिछत्रा आदि की अपेक्षा इसे बाद में ही रखना उचित होगा। बी० बी० लाल के अनुसार जन्मभूमि के क्षेत्र पर प्रारम्भिक मानव बस्ती ई० पू० की सातवीं शताब्दी के लगभग की मानी जा सकती है।

इसके बाद से मनुष्यों का निवास इस क्षेत्र पर लगभग तीसरी शताब्दी ई० तक चलता रहा और इसमें अनेक निर्माण-कार्यों के स्तर मिलते हैं। प्रारम्भिक स्तरों पर मकान, मिट्टी और छप्पर के रहे होंगे और उसके बाद पकाई हुई ईटों के मकान मिलते हैं। रामजन्मभूमि के क्षेत्र में ईटों का एक बड़ा निर्माण कार्य उद्घाटित किया गया। सम्भवतः दुर्ग का प्राकार हो सकता है। इसके ठीक नीचे कच्ची ईटों के निर्माण-कार्य मिले हैं। दुर्ग-प्राकार के युग में, जो तीसरी शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी तक में रखा गया है, पकी हुई मिट्टी के छल्लेदार कुएँ प्राप्त होते हैं। प्राकार के बाहर एक गहरी परिखा (खाई) भी देखने को मिली, जो कुँआरी मिट्टी को काटकर खोदी गयी थी। हनुमानगढ़ी के समीपवाले क्षेत्र में परिमार्जित कृष्ण मृद-भाण्ड के सम्बद्ध निर्माण कार्य और उसके बाद के काल के खण्डहर भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त छल्ले वाले कूँए तथा एक ऐसा कुआँ भी मिला हैं, जिसमें सुजा पट्टी किस्म की ईटे लगी हुई हैं। यह परिमार्जित कृष्ण मृदभाण्ड संस्कृति के परवर्ती काल में रखा गया है।

कुछ अन्य प्राचीन वस्तुएँ जो इस खुदाई से मिली है, उनमें आधे दर्जन के लगभग मुहरें, लगभग ६० सिक्के तथा सौ से ऊपर पकी हुई मिट्टी की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। मुहरों में वासुदेव या वसुदेव या राजावसुदेव की एक मोहर उल्लेखनीय है जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० में रखी जाती हैं (इस राजा के कुछ सिक्के भी अयोध्या से मिल चुके हैं। मूलदेव का एक सिक्का भी मिला है, जो इसी काल का हो सकता है। एक धूसर पकी मिट्टी की एक आकृति भी प्राप्त हुई है जो कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। इसे "जैनकेवलिन" की मूर्ति बताया गया है। यह लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० के स्तर से प्राप्त हुई है और संभवतः समूचे देश में प्राचीनतम जैनमूर्ति कही जा सकती है। हनुमानगढ़ी से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० की विशालकाय पकायी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं जो पूजा के उपयोग में आती थी। प्रो० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अहिछत्रा की खुदाई से भी ऐसी मूर्तियों का उल्लेख किया है, तथा कोशाम्बी, पिपरहवा, वैशाली आदि से भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है।

जहाँ तक अयोध्या के इन स्थलों की खुदाई की वैज्ञानिकता का प्रश्न है उस पर किसी भी प्रकार संदेह नहीं किया जा सकता। प्रो० बी० बी० लाल देश के माने हुए पुरातत्ववेत्ता हैं तथा इनके कालक्रम निर्धारण को भी चुनौती नहीं दी जा सकती। लेकिन कुछ बातें ऐसी हैं जो प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्येता को खटकती हैं। इस स्थान पर प्रो० लाल के **एन्टीक्वीटी के १९८१** (Antiquity 1981) अंक में प्रकाशित लेख पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा जिसमें उन्होंने पुरातत्व और दोनों महाकाव्यों पर अपने अनुसंधानों के फलों को प्रकाशित किया है। इस लेख में उन्होंने महाभारत के कथा का अनुसरण करते हुए यह बताया है कि उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में स्थित हस्तिनापुर नामक स्थान पर धृतराष्ट्र नाम के एक राजा राज्य कर रहे थे। उनके छोटे भाई पाण्डु के पाँच पुत्र थे। धृतराष्ट्र को अपने राज्य को दो भागों में बाँटकर पारिवारिक कलह को शान्त करने का निर्णय लेना पड़ा। हस्तिनापुर और उसके समीपस्थ क्षेत्र उनके पुत्रों को मिला तथा इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली का पुराना किला क्षेत्र) पाण्डवों को मिला। लेकिन यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चली और पाण्डवों को अपना राज्य हारकर वन जाना पड़ा। वहाँ से लौटने पर उन्होंने केवल पाँच ग्रामों को लेकर ही संतुष्ट हो जाने की पेशकश की। ये पाँच ग्राम इस प्रकार थे—(१) प्राणिप्रस्थ (हरियाणा में पानीपत) (२) सोंणप्रस्थ (हरियाणा में सोनपत) (३) वृकप्रस्थ (उत्तर प्रदेश में बागपत) (४) इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली में पुराना किला) तथा (५) तिलप्रस्थ (हरियाणा में तिलपत)। लेकिन कौरवों ने इसे भी देने से इन्कार कर दिया क्योंकि यह सारा क्षेत्र यमुना के पश्चिमी इलाके में पड़ता था और कौरवों के पूर्वी इलाके में पांचाल का राज्य था जिनके साथ पाण्डवों के वैवाहिक सम्बन्ध थे। इस कारण कौरव इन दोनों के बीच में फँस जाते। अतएव कुरुक्षेत्र के मैदान में (हरियाणा) युद्ध हुआ।

ये सभी स्थल पुरातात्विक उत्खननों और पर्यवेक्षणों द्वारा देखे जा चुके थे और इनमें सबसे निचले स्तर पर चित्रित धूसर मृदभाण्ड (P G W) संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। प्रो० लाल ने इस संस्कृति के लोगों के रहन-सहन के सम्बन्ध में पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त

विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह भी बताया है कि हस्तिनापुर में हुये उत्खनन से यह पता चला कि वहाँ पर चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति का अन्त गंगा की बाढ़ के कारण हुआ। वे हस्तिनापुर में इस संस्कृति को ११०० ई० पू० से ८०० ई० पू० के बीच में रखते हैं। बाढ़ को ८०० ई० पू० के बाद ही मानते हैं। महाभारत से वे इस सम्बन्ध में एक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जिनमें यह कहा गया है कि परीक्षित की पाँचवीं पीढ़ी में निचक्षु हुये, जिनके समय में आयी बाढ़ के कारण हस्तिनापुर नष्ट हो गया तथा कौशांबी में राजधानी बनानी पड़ी–

गंगयावहृते तस्मिन्ननगरे नागसाह्वये,
त्यक्तवा निचक्षुनगरं कोशाम्ब्यां स निवत्स्यति।

इसी संदर्भ में श्री लाल ने यह याद दिलाया है कि कौशांबी के निचले स्तरों से चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति के परवर्ती काल के प्रमाण मिले हैं। इसके बाद वे बताते हैं कि कौशाम्बी के शासकों में परीक्षित से २५वां राजा उदयन हुआ जो बुद्ध का समकालीन था। उन्होंने इन राजाओं को चौदह वर्ष का औसत राज्यकाल देकर ३३६ वर्ष पूर्व महाभारत का काल माना है। इस प्रकार ३३६+५०० (उदयन का काल)=८३६ ई० पू० महाभारत युद्ध का काल माना है, जो पुरातत्व की दृष्टि से भी पुष्ट होता है।

दूसरी ओर वे अयोध्या के अपने उत्खननों का हवाला देते हुए बताते हैं कि अयोध्या और नन्दिग्राम के निचले स्तरों पर परिमार्जित कृष्ण मृदभाण्ड के साथ-साथ चित्रित धूसर मृदभाण्ड भी मिले हैं, जिससे महाभारत काल का अंन्तिम स्तर रामायण युग के प्रारम्भिक स्तर के समकालीन माना जा सकता है। उन्होंने प्रयाग के निकट शृंगवेरपुर तथा प्रयाग में भारद्वाज आश्रम की खुदाइयों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार वे यह मानते हैं कि महाभारत की घटना पहले तथा रामायण की घटना बाद में हुई। यह पुरातात्विक दृष्टि से सिद्ध हो जाती है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने वृहदारण्यक उपनिषद के एक श्लोक का उल्लेख किया है, जिसमें राजा जनक के दरबार में वुज्जयु लाहियायनी याज्ञवल्क्य से पूछते हैं "क्व पारीक्षिता अभवन्" अर्थात् परीक्षित के वंशज कहाँ चले गए? इस पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि जहाँ अश्वमेधयाजिन लोग जाते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद को ५०० ई० पू० में रखकर इस जनक को राम का श्वसुर बताते हुए वे अपने पुरातत्व के मत का समर्थन करते हैं।

यहाँ पर कई प्रश्न उठ खड़े होते है। सबसे पहली बात तो यह है कि अयोध्या के कुछ स्थलों की सीमित खुदाई करके रामायण के ऐतिहासिकता को उसमें समायोजित करने का प्रयास श्री लाल ने किया है। यह बात साहित्यिक परम्पराओं के आधार पर तर्क संगत नहीं दीखती। बौद्ध परम्पराओं में कोशल, काशी, राजगृह और पाटलिपुत्र का जैसा वर्णन है उससे यह लगता है कि ई० पू० की छठी शताब्दी में ये केन्द्र काफी विकसित और वैभवशाली थे। यद्यपि काशी को एक ग्राम कहा गया है किन्तु बुद्ध द्वारा अपने प्रथम उपदेश के लिए काशी के समीप सारनाथ को चुनना इस बात को द्योतक है कि उस समय भी काशी अपने ज्ञान की परम्परा के लिए एक निश्चित स्थान बना चुकी थी। यदि यही दशा कोशल और राजगृह आदि स्थानों की रही होगी। यदि अयोध्या को सातवीं शताब्दी ई०पू० में स्थापित हुआ माने तो केवल एक या डेढ़ शताब्दियाँ ही इस बात के लिए बचती हैं, जिसमें इनकी स्थापना एवं विकास दिखाया जाय। बी० बी० लाल के चौदह वर्ष की एक पीढ़ी मानने के गणित को यदि यहाँ लागू करें तो दस पीढ़ियों से भी कम समय हमकों राम और बुद्ध के बीच में मिल पाता है। इस प्रकार क्या हम यह मान सकते हैं कि दस पीढ़ियों में ही राम इतने भुला दिए गए कि बौद्ध साहित्य में उनका उल्लेख तक नहीं हुआ।

AYODHYĀ COINS : A STUDY

O. P. SINGH*

A large number of copper coins found in and around Ayodhyā were issued in this region between *circa* second century B. C. and beginning of the fourth century A. C.[1] Actually, these coins tear up the curtain of the lost history of ancient Ayodhyā. Carnac, Cunningham, Smith, Allan. S.K. Chakrabortty, K.D. Bajpai, Bela Lahiri etc. have laboured hard to bring into relief the historical importance[2] of the coins. However, the cultural gleanings from the coins of Ayodhyā region have not been focussed by the scholars so far. We, therefore, propose to study some of the aspects of cultural life provided by these coins.

Ayodhyā coins may be classified into following groups :

(i) Uniscribed cast coins.
(ii) Square cast coins.
(iii) Die-struck coins.

Minting Technique of Coins :

The ancient Indians invented their own minting techniques. It has been rightly suggested that they 'developed them to some extent is evident from a critical study of the archaic issues of the earliest known Indian coins which were current in India before the advent of foreign rulers and which bear somewhat enigmatic symbols but no writing or legend'.[3] In ancient India, hand-minting persisted. Ayodhyā coins were minted by two distinct processes, *viz.*, casting and die-striking. The detailed process of the manufacture of the coins of Ayodhyā is described no where in ancient literature, "but incidently Kauṭilya gives a list of things that were used in a counter-feiter's atelier".[4] It may be suggested that obviously, the same materials would have also been used in the state mints of Ayodhyā. "They are various kinds of metals (*loha*), alkalis (*kṣāra*), charcoal (*aṅgāra*), bellow (*bhastra*), clipper (*sanḍasa*) hammer (*muṣṭikā*), anvil (*adhikarṇī*), crucibles (*musha*) and dies with designs (*bimbaṭankas*)".[5]

The mint of Ayodhyā *janapada*, probably, was not a large establishment like modern mints and did not have a large number of workers and possess many impliments. Evidently, the coins were minted at Ayodhya, the capital town.

Casting Process

It is worthy of notice that casting of metal was practised in the epic society[6] :

Yathā lohasya nihsyando
nishikto bimba-vigraham
garbhe jīv-opapādanam

(*Mahābharata*, XIV. 18.8)

---

* P. G. Deptt. of Ancient History, Culture and Archaeology, T. D. College, Jaunpur.

[1] However, V. A. Smith thinks that Ayodhyā rulers issued the coin up to second century A. C., *Coins of Ancient India*, pp. 144-45.

[2] For detailed study of political history see Bela Lahiri, *Indigenious States of Northern India* (Calcutta, 1974).

[3] A. N. Lahiri *Seminar Papers on the Tribal Coins of Ancient India*, p. 70.

[4] U. Thakur, *Mints and Minting in India*, pp. 68-69.

[5] *Ibid.*

[6] A. K. Majumdar, *Economic Background of the Epic Society*, (Calcutta, 1977), p. 165.

i.e. "Know that a *jīva* takes shape inside the womb, as molten iron takes the shape of the mould into which it is poured."

The technique of casting coins from moulds 'was a new device which brought about revolutionary changes in the age-old technique of preparing coins by separate punches.'[1] The moulds reported from Eraṇ, Rohtak, Taxilā, Mathurā, Ataranji Khera, Sāñchī, Koṇḍapura, Sunet, Kāśī, Nalandā, Kadakala, Śiśupalagarh, Khokhrākot etc. illustrate the technique of casting coins.[2] A single model was prepared, where all the symbols were put together, and then from that model, moulds were made into which molten metal was poured to cast the coins. The earlier coins of Ayodhyā, viz., class I and II of Allan's *Catalogue*,[3] were prepared by the technique of casting. Unfortunately not a single mould has been reported from the excavations at Ayodhyā.

Die-stricking process :

In addition to the casting of coins, the coins in Ayodhyā's mint were also manufactured by obtaining coin blanks and then die striking. Probably during the middle of the second century A. C.[4] Ajavarmaṇa, Āyumitra, Devamitra, Kumudasena, Mādhavavarmana, Saṅghamitra, Satyamitra, Vijayamitra, rulers of Ayodhyā, issued round die-struck coins (class III of Allan's *Catalogue*). There are 'bull and cock or *nandipada*' type of coins. It has been suggested that the coin blanks 'were either cast in open moulds or were made by flattening cast metal globules by hot or/and cold work'.[5] Recently a chemical analysis of a copper coin of Vijayamitra has been reported.[6] It shows the presence of iron, sulphur, lead in traces. It shows that coin is made of unalloyed copper. Further the presence of iron and sulphur indicates that sulphide ore has been smelted for obtaining the metal. The copper was melted in crucible (*mūsha*) but could not be purified because a few elements like iron and lead are the main impurities. The absence of tin shows that unalloyed copper was used in the mint of Ayodhyā. From the point of view of hardness and strength the alloy would be quite suitable composition. Since copper is unalloyed the coins of Ayodhyā region are in bad state of preservation. The study of cast structure of a coin of Vijyamitra shows that 'the embossing of the coin has not changed the cast structure. It is possible that die was struck in warm condition'.[7] No die has been reported from archaeological excavation at Ayodhyā. However, for stamping the copper coins of Ayodhyā, the bronze die must have been used because the coin

---

1. U. Thakur, *op. cit.*, p. 102. Foro rigin of moulds in ancient literature see *Ibid*,, pp. 102-104.
2. See for detail, B. Sahni, *The Technique of Casting Coins in Ancient India*, cf, U. Thakur, *op. cit.*, p. 102ff.
3. Class I uninscribed cast coins. Class II inscribed square cast coins of Dhanadeva, Mūladeva, Poṭhadeva, Vāyudeva, Viśākhadeva, Jeṭhadata, Naradata, Śivadata. Generally the obverse of the coins show the figure of a bull and, a group of symbols—tree in railing, Ujjain symbol, river, *svasttka*, *nandipada*—occur on the reverse.
4. B. Lahiri, *op. cit* , p. 142.
5. H. C. Bhardwaj, *Aspects of Ancient Indian Technology*, p. 101.
6. *Ibid* p. 80; *Seminar Papers on Local Coins of Northern India* (ed. A. K. Narain), p. 164.
7. H. C. Bhardwaj, *Aspects of Ancient Indian Technology*, p. 100.

of Vijyamitra has a hardness of 112 V. H. N.[1] For this the dies of bronze having a hardness of approximately 150 V. H. N. would have been required.[2] It has been suggested that 'the designs could be first engraved into soft metal like lead and then impressed over fine clay and the dies could be cast in bronze.[3] A suggestion may be advanced that in the Ayodhyā mint dies could also be produced by stricking a hub to give them a negative image.' It is also worthy of notice that iron metallurgy was in advance stage around 600-200 B. C. and 'it is quite possible that design was first engraved in an iron hub, which was then carburized. This could serve as a master die and thus used for striking coins.'[4] Probably the same method could have been employed in Ayodhyā mint.

Form of Government :

From City State to Monarchical State

Ayodhyā, situated on the bank of river Saryu, in the Gangetic valley was a city-state during second century B. C. It is suggested that the earliest uninscribed cast coins of Ayodhyā are of the nature of city-coins. The figure of a steel-yard in type 3 of these coins may be compared with the steel-yard on some of the local coins of Taxilā. On account of the occurrence of a steel-yard, Allan regards the earliest uninscribed cast coins as issues of the city. These copper pieces are decidely distinct from the dynastic issues which followed them.[5] Since these coins are uninscribed, therefore, they are assigned to the end of the third or the beginning of the second century B. C.[6] We thus see that Ayodhyā was in a flourishing state during the second century B. C.[7]

However, coins bearing the names of rulers, issued from about the latter half of the second century B. C. testify the existence of monar-

---

1. *Ibid* , p. 87.
2. *Ibid*, p. 191.
3. *Ibid.*
4. *Ibid.*
5. J. Allan, *British Museum Catalogue of Coins of Ancient India* (Henceforth *BMCAI*) p. lxxxviii.
6. *Ibid.*, p. lxxxvi. Allan dates these coins about the third century B. C. But B. Lahiri thinks that they were issued in the second century B. C. (*op. cit.*, p. 75).
7. It is worthy of notice that almost all the cities to the west of land between the Ganges and the Narmadā were situated on river banks. Vārāṇasī, Kauśāmbī, Vidiśā, Erakina, Ujjayinī Tripurī, Māhishmati etc. issued the coins bearing the name of respective city. For detailed study see B. Lahiri. *op. cit.*pp. 72-73.

[This view does not seem sound. Mr. Allan, the advocate of the City- State theory, does not explain why and under which circumstances the cities like Ayodhyā became free and self-governed units in the second century B. C. We know that according to the accepted chronology the Śungas displaced the Mauryas in the second century B. C. who themselves were replaced by the Kāṇvas after a rule of 112 years. It is not easy to think of a period at this time when suitable circumstances existed for croping up of so-called city states. The city state theory advanced by Allan and supported by many European and Indian scholars can evidently be attributed to the European way of thinking which had Greek city states in the background of their minds. *Editor*] chical state at Ayodhyā. The legends of the dynastic issues are : *Mūladevasa, Vāyudevasa. Viśākhadevasa, Dhanadevasa, Śivadatasa, Vijayamitasa, Rajñaḥ Kumudasenasa, Āyumitasa, Satyamitasa, Devamitasa, Ajavarmaṇa* (*ṇo*), *Saṅghamitasa* etc. On the basis of study of palaeography, type, fabrication and devices of square cast coins, an attempt has been made to show the chronological order of the rulers in the following way :[1]

(1) Praushṭhadeva
(2) Mūladeva
(3) Vāyudeva
(4) Dhanadeva
(5) Viśākhadeva
(6) Śivadatta
(7) Naradatta
(8) Jyeshṭhadatta.

According to Cunningham[2] and Allan[3] these rulers reigned in the second century B. C. but it is very difficult to agree with these scholars. Supposing that the line of Dhanadeva originated during the time of Pushyamitra, from whom he claims descent, then it probably began to rule from about the middle of the second century B. C. And if Dhanadeva, who was the sixth in descent from Pushyamitra, is placed towards the end of the first century B. C., his four successors, as known from coins, may roughly be assigned a period of about a century. The end of the rule of the princes represented by the square cast coins of Ayodhyā may, therefore, be dated about the latter part of the first century A. D.[4] The inscription dated in the Kanishka era found from Saheṭ Maheṭ[5] near Ayodhyā indicates that Ayodhyā formed part of Kanishka's dominions. Thus, most probably, the early ruling dynasty known from square cast coins of Ayodhyā was brought to an end by Kanishka himself.[6]

On account of absence of any dated inscription of the time of Huvishka or his successors in Ayodhyā region it has been suggested that 'the hold of the rulers who came after Kanishka was weakened over that region.'[7] During this period the indigenous rulers of Ayodhyā, known from the round die-struck coins asserted their independence. These coins show the figure of a bull on the obverse and the figure of a cock or a *nandipada* on the reverse. On the basis of palaeography and typology of the die-struck coins, the chronological order of the rulers has been shown as follows :[8]

(1) Kumudasena
(2) Ajavarman
(3) Mādhavavarman
(4) Saṅghamitra
(5) Vijayamitra
(6) Satyamitra
(8) Āyumitra.

Kumudasena, the earliest ruler of this series, aspiring for independence, rose against the Kushāṇas as he bears the title *rājñaḥ*. He probably began his reign sometime about the second half of the second century A. C. Allotting an average of twenty years for each ruler

---

1. B. Lahiri, *op. cit* pp. 141-42.
2. A. Cunningham, *Coins of Ancient India*, pp. 90-91.
3. J. Allan, *BMCAI*, p. lxxxix.
4. B. Lahiri, *op. cit.*, p. 142.
5. D. C. Sircar, *Select Inscriptions*, Vol. 1, p. 140.
6. Cf. *Age of Imperial Unity*, p. 162.
7. B. Lahiri, *op. cit.*
8. B, Lahiri, *op. cit.*, p. 144.

of the dynasty, it appears that the reign of Āyumitra came to an end towards the beginning of the fourth century A. C. Since the *Purāṇas* tell us that Sāketa (adjoing Ayodhā) was included in the Gupta empire about the time of its foundation, it is very likely that one of the early Gupta rulers were responsible for the overthrow of the ruling dynasty of Ayodhyā.

Thus the above discussion tells the tale of political set up of Ayodhyā from second century B. C. to the beginning of the fourth century A. C. Rising from the city state, Ayodhyā took the form of monarchical state.

Economic Bearings :

Ayodhyā coins shed ample light on some aspects of the economic history of the region. It is well known to us that the copper was used in minting of the coinage.

Source of Copper :

The knowledge of the sources of copper reveals important economic implications. The use of copper or bronze may be traced as far back as the pre-Indus civilization phase[1] of culture. Copper has been invariably referred to in Indian literature from the later Vedic period onward. Ancient copper mines existed in different parts of south Bihar and Orissa and there is enough evidence of ancient mines in Madras, Madhya Pradesh and Rajasthan.[2] Recently a chemical analysis of a copper coin of Vijayamitra, ruler of Ayodhyā, has thrown fresh light on the source of copper used for minting. Usual impurities of iron, lead, and sulphur are present in it. Nickel even in traces is absent. Its absence might be significant and might mean a different provenance of the ore used for making the coins.[3] The Ayodhyā mint used unalloyed copper.[4] Since it is unalloyed, H. C Bhardwaj is of the opinion that the indigenous ore was not used.[5] The presence of iron and sulphur in the Ayodhyā coin indicates tha sulphide ore has been smelted for obtaining the metal.

According to H. C. Bhardwaj, the copper of Ayodhyā coin has no nickel and thus might be imported. Indian copper is always alloyed with nickel. It is significant to note that like Ayodhyā, the copper used for Taxilā coins is also unalloyed. Therefore, it is rightly suggested that the source of Taxilā coins was Iran and that was coming to India by way of Balkh.[6] The Indo-Greeks had their hold over that region and later on marching towards east they conquered Taxilā and Sāket. Therefore, it may be suggested that 'Some amount of Iranian copper was imported to Taxilā and Ayodhyā during the temporary domination of the Yavanas, and when they were ousted from Taxilā and Ayodhyā, the local rulers used for sometime for their coinage the copper deposits brought by probably the Yavana traders'.[7] Another probablity for the procurement of the copper for Ayodhyā coins was Ujjain[8] where copper was brought directly from Bharuka-

---

1. J. Marshall, *Mohenjodaro And Indus Civilization*, p. 30.
2. Brown, *India's Mineral Wealth*, p. 90.
3. H. C. Bhardwaj in *Seminar Papers on the Local Coins of Northern India* (Ed. A. K. Narain) p. 164.
4. *Ibid.*
5. *Ibid.*
6. B. Srivastava in *Seminar Papers on The Local Coins of Northern India*, p. 167.
7. B. Srivastava, *loc. cit.*
8. B. Srivastava, *Trade And Commerce in Ancient India*, p. 175.

chchha (Barygaza). The *Periplus* tells us that copper in large quantity was imported into Barygaza.[1] As we shall discuss below Sāket, adjoining Ayodhyā, was well connected with Ujjain.

Metrology :

The Ayodhyā coins reflect local character in weight standard as they follow the varying weight standards. We notice that the weights found in the actual specimens do not follow the traditional theoretical weight system given in the law-books. However, an effort may be made to corelate the weight of actual specimens to that of found in the law-books. According to the ancient law-books one copper *kārshāpaṇa* is equal to 80 *rattīs* or 144 grains. The weights of the uninscribed copper cast coins of Ayodhyā so far known are 23, 26.8, 30, 34, 36 and 38 grains. Coins weighing 34, 36 grains are *kākiṇī* or 1/4 *paṇa*. According to Cunningham coins of 38 grains are also *kākiṇī*.[2] Further square cast coins and die-struck coins also show variations in their weights. We come to know from Allan's *Catalogue* that the lowest weight of the coins is 9.5 grains whereas the heaviest coins are of 136.5 grains. Square cast coins of Śivadatta weighing 17.5 grains and 9.5 grains are 1/8 *paṇa* or *ardha-kākaṇī* and 1/16 *paṇa* respectively. A few coins of Viśākhadeva and Dhanadeva weighing 68 grains and 70.5[3] grains seem to be *ardhapaṇa*. Dhanadeva, Satyamitra, and Aryamitra issued the coins of 107,[4] 108[5] and 106[6] grains respectively. These are 3/4 *paṇa*.

Inter-state Trade Relations :

Recently on the basis of the symbols on post-Maurya currency, it has been suggested that the coins probably express the political individuality and are characteristic of the trade and commerce of the period in which they served as the metallic media of exchange.[7] The symbols are not always religious; some of them may be taken as trade marks and others as the political insignia of the issuing states.[8] The copper coins of Taxilā seem to have influenced the coins of Ayodhyā, both these places being important centres of trade of ancient India.[9] Depiction of a steel yard on the coins of Taxilā and Ayodhyā is not without economic signficance. Both had trade relations. H. C. Bhardwaj has suggested that the copper of Taxilā and Ayodhyā coins has no nickel, and most probably it might have been imported because Indian copper is not without nickel.[10] It has been already suggested that 'the source of Taxilā coins was Iran and that was coming to India by way of

---

[1] *Periplus*, 49.

[2] Cunningham, *op. cit.*, p. 91.

[3] J. Allan, *BMCAI*, pp. 132-33.

[4] *Ibid.*, p. 133.

[5] *Ibid.*, p. 136.

[6] *Ibid.*, p. 137.

[7] B. Srivastava *Seminar Papers on the Local Cains of Narthern India*, p. 66ff. Cf also, U. Thakur, *op. cit.*, p. 156. O. P. Singh, *A Cultural Study in the Early Coins of India* (unplished Thesis, Magadh University, Bodh Gaya), p. 323.

[8] O. P. Singh, *op. cit.*, pp. 323-324.

[9] *BMCAI*, pp lxxxvii.

[10] See *Supra*.

Balkh'. The Indo-Greeks having possession over Iran, conquered Taxilā and Sāketa (adjoining Ayodhyā). Therefore, some amount of Iranian copper was imported to Taxilā and Ayodhyā during the temporary domination of the Indo-Greeks, and when they were expelled from Taxilā and Ayodhyā, the copper deposits brought by probably the *Yavana* traders were used in Ayodhyā mint.[2]

The occurrence of the figures of Ujjain symbols on the Ayodhyā coins is also of economic significance. Ujjain as a commercial centre had trade relations with Ayodhyā. The *Sutta Nipāta* traces the route between Śaketa and Ujjain.[3] It is worthy of notice that the significant source of supply of copper to the Ayodhyā mint was Ujjain where copper was brought directly from Bharukachchha (Barygaza). India, during the Śuṅga and Kushāṇa period saw flourishing crafts and commerce as is evidenced by epigraphic and monumental sources. Though in comparison to these sources numismatic data at our disposal are meagre, they are nonetheless significant. For instance, the excavation at Sohgaurā (NBP phase) has yielded Ayodhyā, Pañchāla and Kushāṇa coins.[4] It is significant to note that the excavation at Ayodhyā has produced Roman wares which show flourishing trade of Ayodhyā during first-second centuries A. C.

Religion

Ayodhyā coins also offer fascinating study of the religion. It has been aptly remarked by C. Sivaramamurti that 'Every figure struck or marked on a coin has been done deliberately with a purpose and has some function to serve, some meaning to connote'.[5] Further 'From the religious point of view the symbols no doubt indicate the tradition of aniconism which persisted even after the growth of iconism'.[6]

Tree Worship :

'Tree with railing'[7] occurs on the coins of Mūladeva, Vāyudeva, Dhanadeva and Śivadatta. Cunningham regards it as a 'Bodhi tree'.[8] But the trees enclosed by wall or a railing depicted on the sealings of the Indus valley testify to 'an animistic belief manifested in the worship of tree spirit'.[9] In the Epics the trees are often regarded as the resort of the *Devas*, *Yakshas*, *Nāgas*, etc. Sometimes the figure of tree with railing may be identified with *Sthala-vṛiksha* sacred to Śiva.[10]

Indra :

Indra[11] was also represented by symbols on the Ayodhyā coins if we accept the interpretations advanced by certain scholars. The

---

1. See *Supra*
2. *Sutta Nipāta*, verses 976-977.
3. See *Supra*: Source of Copper. cf. also O.P. Singh, *op. cit.*, p. 324.
4. *IAR*, 1961-62, p. 56.
5. *Numismatic Parallels of Kālidāsa*, p. 1.
6. B. Chattopadhyay, *Coins And Incons : A Study of Myths And Symbols in Indiaan Numismatic Art*, p. 9.
7. *BMCAI*, pp. 130, 131, 132, 133, and the corresponding plates.
8. Cunningham, *op. cit.*, p. 92.
9. O. P. Singh in the *Journal of the Numismatic Society of India*, XLII, p. 70.
10. O. P. Singh, *Religion And Iconography on Early Indian Coins* (Varanasi, 1971), p. 6.
11. For Detail study see *Ibid.* p. 79ff,

figures of the triangular-headed standard, probably within railing, occur on the coins of Vāyudeva,[1] Dhanadeva[2] and Śivadatta.[3] The triangular headed symbol has been recognised as a representation of the *Indra-Yashṭi*.[4] The so called Ujjain symbol, has been taken by some scholars as *Vajra*.[5] This symbol[6] may be seen on the coins of Mūladeva, Viśākhadeva and Dhanadeva.

Kārttikeya :

The reverse device of the coins of Āyumitra, Satyamitra, Devamitra, and Vijaymitra reveals the popularity of Kārttikeya in Ayodhyā region. The device has been described by Smith as a 'cock on top of the post'.[7] J. N. Banerjea has interpreted it as a cock-crested column (*Kukkuṭadhvaja*) sacred to the god Kārttikeya.[8] One of the earliest representation of this was found at Lala Bhagat near Kanpur.[9] The association of the cock with Kārttikeya is referred to in several ancient texts.[10] However, K. D. Bajpai has identified the bird on the coin of Devamitra with peacock.[11] But the figure shown in the plate is not very clear. Therefore, it is very difficult to recognize the figure published by K. D. Bajpai. Anyway, peacock was also associated with Kārttikeya.

Gaja Lakshmī :

Gaja-Lakshmī, a popular motif in ancient Indian art, occurs on the reverse of the coins of Viśākhadeva and Śivadatta.[12] The goddess bathed by two elephants on her either side is mentioned in several texts.[13] The coins of Viśākhadeva depict Lakshmī standing on lotus, annointed by two elephants standing on lotus, on her either side. She has also been represented in sitting posture on the coins of Śivadatta.[14]

---

1. *BMCAI*, p. 130, and corresponding plate.
2. *Ibid.*, p. 132 and corresponding plate.
3. *Ibid.*, p. 134 and corresponding plate.
4. A. M. Shastri in *Seminar Papers on Local Coins of Northern India*, p. 83. Cf. also O.P, Singh, *op. cit.*,
5. K. D. Bajpai in *Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology*, University of Saugar, Vol I, pp. 21-24, A.M. Shastri is not sure about the real nature of the symbol as he thinks it to be a conventional form of *svastika*. (*op.cit*. p. 83). C. Sivaramamurti has suggested that the four arms of this symbol signifies the concept of the four quarters upto the ocean (*op. cit*., p. 10.,)
6. *BMCAI*, pp. 130, 131, 133, and their corresponding plates.
7. *Coins of Ancient India*, pl. II p. 151. Allan indentified the bird with *haṁsa (op.cit*.,p.1xxxix).
8. *Development of Hindu Iconography*, p. 141; *Journal of the Numismatic Society of India*, XXII, p. 43.
9. *ASIAR*, 1929-30, pl.xxxi,p. 133.
10. *e.g*., *Mahābhārata*, III. 226, 14,*Vāyu Purāṇaa*, 72.45.
11. *Journal of the Numatic Socitty of India*, XXV, p. 109.
12. O. P. Singh, *Religion and Iconography on Early Indian Coins*, pp. 18-19.
13. *Vishṇudharmottara Purāṇa*, III.82.7 For literary references see O.P. Singh, *Iconography of Gaja-Lakshmī* (Varanasi 1982).
14. *BMCAI*, pl.XVI. 14.
15. *Ibid*., p. 133, pl. XL. III.5

Nāga worship :

The snake was also an object of veneration among the ancient Indian peoples.[1] The representations of wavy line on the coins of Mūladeva, Vāśākhadeva, Dhanadeva, Śivadatta and Naradatta may be considered as the *nāga* devices.[2]

Bull and Elephant worship :

V. S. Agrawala has suggested that these two animal figures, regarded as Mahā Ājaneya Paśus,[3] were held sacred much anterior to Buddhism of which the earliest traces are found in the Indus Valley and *Ṛigveda.* The elephant could stand for Indra, but at the same time it was an object of veneration in Buddhism. A *Jātaka* (no. 455) describes elephant festival where a stone image of the elephant was worshipped.[4] The bull may be regarded as theriomorphic representation of god Śiva. The figure of bull[5] occurs on the coins of Mūladeva, Viśākhadeva, Dhanadeva, Śivadatta and Naradatta. The coins of Vāyudeva, and Śivadatta show the figure of elephant.[6]

Srīvatsa :

The literal meaning of *Śri Vatsa* is the "Babe (*vatsa*) of Śrī or the goddess of plenty". It signified prosperity and abundance; it is included in the list of Eight Auspicious signs (*Ashṭamaṅgala*) of Indian art and tradition. The motif appears on the chest of Vishṇu and Tīrthāṅkara images. However, the Jain, the Vaishṇava, the Buddhist and other Indian creeds freely shared the motif.[7] The figure of *Śrīvatsa* occurs on the reverse of a variety of Viśākhadeva.[8]

Some sacred symbols like *savastika* and *nandipada* also occur on the coins of Ayodhyā.[9]

Bull sacrifice :

The obverse of die-struck coins of Āyumitra, Satyamitra, Kumudasena, Vijayamitra etc. shows the figure of bull before standard or *yūpa.*[10] According to Allan, it is a bull before a standard or spear. He further points out that it closely resembles the ceremonial spear on the *Aśvamedha* coins of Samudragupta. Therefore, it may be taken as a depiction of *Śūlagāva* sacrifice. According to the *Āśvalāyana Gṛihyasūtra* the purpose of this sacrifice was to procure "wealth, space, purity, sons, cattle, long life, splendour etc".[11] The rulers who preferred the device had certainly special reason to associate their coins with this particular rite. As we have already discussed

---

1. See Fergusson, *Tree and Serpent Worship.* Vogel, *The Indian Serpent Lore* etc. cf. also O.P. Singh, *Religion and Iconography on Early Indian Coins*, p. 85.
2. *BMCAI*, pp. 130-135 and illustrated plates. cf, also O. P. Singh, *loc. cit.*
3. *Indian art*, p. 69.
4. V. S. Agrwala. *Chakra-Dhvaja*, p. 33.
5. *BMCAI*, pp. 130, 132, 134 and corresponding Plates.
6. *Ibid.*, pp. 130,133 and corresponding Plates.
7. For the significance of the *Śrīvatsa* motif see P. K. Agrawala, *Śrivatsa*: *The Bade of Goddess Śri*.
8. *BMCAI*, p. 131 and corresponding plates.
9. *Ibid.*, p. 130,131,132,133 and corresponding Plates.
10. *Ibid.*, pp. 135,136 and correspohding Plates.
11. *BMCAI.*, pp. lxxxix, 135-139.
12. *Āśvalāyana Grihyasūtra*, IV. 8. 36.

the rulers of the die-struck series freed themselves from Kushāṇas who exploited the people of the Ayodhyā region. In order to appease the god Rudra who could bestow wealth, progeny, long life and splendour etc., probably, these rulers of Ayodhyā performed bull-sacrifice. The coins of Ārjunāyanas and Yaudheyas testify to the prevalence of bull-sacrifice.[1]

Art In Ayodhya Coins :

The artistic value of the Ayodhyā coins cannot be minimised. It is true that on account of bad preservation of the coins under study they are devoid of artistic beauty. But whatever remains is not devoid of merit. Some *Gaja Lakshmī* figures on the Ayodhyā series of coins,[1] inspite of their being in bad state of preservation, are quite artistic and can be favourably compared with the bas-reliefs at Bharhut, Sāñchī, Amarāvatī, etc.

The representation of flora and fauna has also found favour on the Ayodhyā coins. The former comprises representation of tree in railing, lotus and palm tree. On uninscribed cast coins blossoming lotus has been tastefully depicted.[3] The depiction of palm tree, in relief, on the round die-struck coins of Ayodhyā, has been elegantly made.[4]

As regards fauna, bull, elephant and cock are noteworthy for their merit. On the coins of Vāyudeva the elephant has been shown walking and the execution of legs shows clearly the motion of the body.[5]

———

---

1. See for detail O. P. Singh, *Religion and Iconography on Edrly Indian Coins*, pp. 10-11.
2. *BMCAI*, Pl. XVI, 14-15.
3. *Ibid.*, Pl. XVI, 6.
4. *Ibid*,, 1l. XVII, 11. 18.
5. *Ibid.*, Pl. XVI, 15.

संस्कृत वाङ्गमय में अयोध्या

जनार्दन उपाध्याय*

अयोध्या का अर्थ है, जिससे युद्ध न किया जा सके। रुद्रयामल तन्त्र में इसके बारे में कहा गया है—'न योद्धुं शक्यते यस्मात् तामयोध्यां ततो विदुः'। इस पुरी को अजेय और लोकोत्तर महिमा से युक्त माना जाता है। अयोध्या भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में अपनी सनातन और शाश्वत महिमा के लिये सुविख्यात है। धर्म, कर्म, भक्ति, उपासना और सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में लोक का मार्गदर्शन करने वाली इस धार्मिक नगरी का अपना गौरवशाली इतिहास रहा है। नितान्त भौतिक प्रयोजन में आने वाला प्राणी भी यहाँ स्वयं को एक धर्मप्राण तीर्थयात्री की मनोदशा में पाता है।

अयोध्या की युगान्तर व्यापिनी महिमा का शुभस्मरण हमारे लिये परम श्रेयस्कर है। यह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की जन्मभूमि और कर्मभूमि है। आस्तिक भावना के अन्तर्गत इस पुरी का अस्तित्व अति प्राचीन और अनुमान से परे माना जाता है। भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में अयोध्या के दो रूपों की चर्चा मिलती है, इन्हें क्रमशः परायोध्या और पार्थिव अयोध्या कहा जाता है। एक अयोध्या दुलोक या परलोक में है, जो सर्वशक्तिमान ब्रह्म की नित्य लीलास्थली है, और, दूसरी यह भौतिक या पार्थिव अयोध्या है जिसे हम अपने चर्म चक्षुओं से देख रहे हैं। आर्यावर्त की प्राचीनतम भाषा संस्कृत में रचित धर्मग्रन्थों, शास्त्रग्रन्थों और काव्यग्रन्थों में अयोध्या के अद्वितीय सौन्दर्यवैभव तथा माहात्म्य का वर्णन मिलता है। अयोध्या की चर्चा वेदों से ही मिलने लगती है। प्राप्त वांगमय में अयोध्या का सर्वप्रथम नामोल्लेख अथर्ववेद के इस मंत्र में मिलता है—

> अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
> तस्यां हिरण्यमयः कोशः सवर्गोज्योतिषावृतः॥

संहिताग्रन्थों विशेषकर शिवसंहिता और वशिष्ठ-संहिता में यही परायोध्या बड़े विस्तार से वर्णित है। बाद के ग्रन्थों में धीरे-धीरे अयोध्या के इस रूप का वर्णन कम होता गया है और लौकिक रूप का वर्णन प्रधान होता गया है। दोनों में तात्त्विक अभेद माना जाता है—

> भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानं त्वियं भुवि।
> भोगलीलापतीरामो निरंकुश विभूतिकः॥

अर्थात् परम ब्रह्म राम के भोग की भूमि परायोध्या है और, उनकी लीलाभूमि है पृथ्वी पर स्थित अयोध्या। वे भोग और लीला दोनों के प्रधान नियन्ता हैं। इस प्रकार परायोध्या और पार्थिव अयोध्या दोनों एक दूसरे से रूप-प्रतिरूप भाव से सम्बद्ध हैं। प्रायः एक की चर्चा के साथ दूसरे का प्रसंग भी किसी न किसी रूप में आ ही जाता है। रुद्रयामल तन्त्र के अयोध्या-माहात्म्य के प्रथम अध्याय में एक कथा मिलती है जिसके अनुसार इक्ष्वाकु की प्रार्थना पर भगवान ने उनके तथा उनकी प्रजा के निवास के लिये स्वर्गलोग की अयोध्या के तुल्य पृथ्वी पर एक अयोध्या की रचना का आदेश दिया। इस पुरी का निर्माण महर्षि वशिष्ठ के निर्देशन में हुआ और विश्वकर्मा इसके निर्माता बने। यह पुरी दीर्घकाल तक इक्ष्वाकु वंशी राजाओं की राजधानी रही। इन राजाओं में इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ, मान्धाता, अम्बरीष, हरिश्चन्द्र, सगर, रघु, दिलीप, अज, दशरथ तथा राम आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। इन राजाओं की अक्षयकीर्ति का वर्णन भारतीय वांगमय में यत्र-तत्र सर्वत्र मिलता है। प्राचीन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि अयोध्या उस विशाल राज्य की राजधानी थी, जिसका नाम कोशल था। बाल्मीकीय रामायण के अनुसार सरयू तट पर सुसमृद्ध कोसल नामक महान जनपद के अन्तर्गत अयोध्या नाम की लोकविश्रुत नगरी थी—

> कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
> निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
> अयोध्या नाम नगरी तवासील्लोक विश्रुता॥

---

* ५७१, रामकोट, अयोध्या, फैजाबाद, उ० प्र०।

वाल्मीकीय रामायण के बाद के ग्रन्थों में अयोध्या का जो रूप वर्णित है उसमें अयोध्या या तो एक आदर्श और प्रतापी नरेश की अपूर्व वैभवयुक्त राजधानी के रूप में चित्रित है, अथवा एक अद्वितीय महिमा सम्पन्न तीर्थ के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक मानस ने जब से राम को ईश्वर माना तबसे अयोध्या को एक परम पवित्र तीर्थ माना जाने लगा। यों तो १८ महापुराणों में से लगभग आठ में अयोध्या के माहात्म्य का वर्णन न्यूनाधिक विस्तार से मिलता है किन्तु स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या-माहात्म्य इस दृष्टि से प्रमुख है। इसमें अयोध्या का वर्णन १० अध्यायों में है। कुल मिलाकर अयोध्या के लगभग १५ तीर्थों का वर्णन स्कन्दपुराण में किया गया है। ये हैं। विष्णु हरितीर्थ, ब्रह्मकुण्ड, सहस्त्रधारातीर्थ, स्वर्गद्वार-तीर्थ, चान्द्रसहस्रव्रतोद्यापन तीर्थ, धर्महरितीर्थ, स्वर्णखनि तीर्थ, तिलोद की गगा, धोषर्ककुण्ड, सीताकुण्ड, क्षीरोदक तीर्थ, गोप्रतार तीर्थ आदि। अयोध्या के इतिहास और भूगोल पर स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या वर्णन से बड़ा प्रकाश पड़ता है। इसमें अयोध्या को मछली के आकार वाली तथा अतिरम्य बताया गया है। अयोध्या नाम के प्रतीकार्थ की ओर संकेत करते हुए स्कन्दपुराणकार ने अकार को ब्रह्मा का, यकार को विष्णु का तथा धकार को रुद्र का वाचक बताया है—

अकारो ब्रह्म च प्रोक्तं यकारो विष्णुरुच्यते।
धकारो रुद्ररूपश्चः अयोध्या नाम राजते॥

स्कन्दपुराण के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, वाराहपुराण, मत्स्यपुराण तथा श्रीमद्भागवत और महाभारत आदि ग्रन्थों में भी अयोध्या की चर्चा है। रुद्रयामलतन्त्र में तो अयोध्या का वर्णन ३० अध्यायों में है, और इसमें अयोध्या के छोटे-बड़े शताधिक तीर्थों का वर्णन है तथा उनके संक्षिप्त वृत्त, उनके सेवन की विधि, महिमा आदि का भी उल्लेख किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में अयोध्या के अन्य नामों का उल्लेख भी मिलता है : जैसे साकेत, कोसला, अपराजिता, ब्रह्मपुरी आदि। इन नामों में से एक "साकेत" अब बहुत प्रचलित हो चुका है।

संस्कृत कवियों में महाकवि कालिदास, भट्टि, कुमारदास, तथा धनपाल ने अपनी रचनाओं में अयोध्या का वर्णन किया है। इस नगरी का घनिष्ट सम्बन्ध रामकथा से होने के कारण राम साहित्य में सर्वत्र इसकी चर्चा स्वाभाविक ही है। भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में प्रणीत रामायणों (रामकथाग्रन्थों) में भी अयोध्या वर्णन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। भक्तशिरोमणि महाकवि तुलसीदास ने अपने मानस में अयोध्या की वन्दना इन चौपाइयों में की है—

बन्दऊँ अवधपुरी अति पावनि।
सरयू सरि कलि कलुष नसावनि॥

भगवान राम अयोध्या को बैकुण्ठ से भी श्रेष्ठकर घोषित कर कहते हैं कि मुझे बैकुण्ठ भी उतना प्रिय नहीं है, जितनी प्रिय अयोध्या है—

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना।
वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय कहीं सोऊ।
यह प्रसंग जाने कोउ कोउ॥

हिन्दी के अन्य कवियों में केशवदास तथा मैथिलीशरण गुप्त ने अयोध्या की अपूर्व शोभा का आख्यान किया है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय की सुदीर्घ परम्परा में अयोध्या की महिमा का भूरिशः गायन किया गया है।

अयोध्या के पुराकालिक गौरव की चर्चा के साथ-साथ इसके वर्तमान स्वरूप का तर्कसंगत इतिहास भी थोड़ा देख लेना चाहिए। आज जो अयोध्या हमारी आँखों के सामने है यह प्राचीनता के विचार से अधिक से अधिक महाराज विक्रमादित्य के समय की है। भौतिक अवशेषों में यहाँ इससे पुराना कदाचित ही कुछ हो। अयोध्या के बारे में जिज्ञासु तीर्थयात्री प्रायः यह पूछते पाये जाते हैं कि क्या यह वही अयोध्या है जो राम के समय थी। इसका प्राचीन इतिहास पर आधारित परम्परागत उत्तर यही है कि उस युग की तो केवल सरजू नदी है। पुरी का वर्तमान स्वरूप तो अधिक से अधिक विक्रमादित्य के समय का है। हाँ इतना अवश्य है कि वह स्थान जहाँ यह पुरी बसी है, वही स्थान पुरानी अर्थात् त्रेताकालीन अयोध्या का है। इसके साथ ही विक्रमादित्य द्वारा अयोध्या के वास्तविक भू-भाग का पता लगाये जाने और उसके पुनः बसाये जाने की कथा दुहरा दी जाती है। यह भी कहा जाता है कि इसके पहले भी दो बार अयोध्या उजाड़ होकर विलुप्त हो गई थी, तब इसे क्रमशः राजा हरिश्चन्द्र और महाराज कुश ने बसाया था।

विक्रमादित्य द्वारा इसे बसाये जाने की बात को यदि आधार माना जाय तो आज जो अयोध्या नगरी हमारे सामने हैं, वह लगभग 2000 वर्ष पुरानी है। इस अवधि का इतिहास तो इतिहासवेत्ताओं की पहुँच में भली प्रकार आ चुका है और उनके इतिहास ग्रन्थों में अयोध्या सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों का फुटकर उल्लेख ही मिलता है। अयोध्या का स्वतन्त्र इतिहास लिखने का प्रयास बहुत कम हुआ है। रायबहादुर लाला सीताराम ने इस दिशा में विशिष्ट प्रयास करके "अयोध्या का इतिहास" लिखा जो सन् 1932 में हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हुआ था। उस समय अंग्रेजी शासन था, जिसका उल्लेख करते हुए लाला सीताराम जी लिखते हैं—

"अंग्रेजी राज्य में अयोध्या पांच-छः हजार की आबादी का एक छोटा सा नगर सरयू नदी के बांये तट पर है।" "आजकल की अयोध्या" शीर्षक इस लेख में लेखक ने फैजाबाद नगर को भी अयोध्या के अन्तर्गत मानते हुए अयोध्या के मुख्य-मुख्य स्थलों की चर्चा की है और इनमें स्वर्गद्वार, सूर्यकुण्ड, जनकौरा, खोजनपुर, गोप्रतारघाट तथा इस क्षेत्र के बीच के सरयू तट की भी परिगणना की गई है। आज तो खासतौर से "अयोध्या" नाम से जितने क्षेत्र का बोध होता है वह और भी संकुचित हो गया है और इसका कारण यह है कि नवाबों ने अयोध्या नगरी के अन्तर्गत में ही अपने ढंग का एक नया नगर बसाया और उसे फैजाबाद नाम दे दिया। यह सरकारी दस्तावेजों में अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। आज फैजाबाद जिला होने के साथ-साथ एक मण्डल भी है। यद्यपि अयोध्या एक छोटा सा नगर है और फैजाबाद के अन्तर्गत है तथापि प्राचीन प्रसिद्धि तो अयोध्या की ही अधिकृत है। देश विदेश के दूरस्थ क्षेत्रों में फैजाबाद का परिचय आज भी अयोध्या के नाम पर दिया जाता है।

अयोध्यापुरी के आकार-प्रकार के बारे में कई साक्ष्य मिलते हैं। वाल्मीकि के अनुसार महापुरी अयोध्या १२ योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी थी।

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणी विस्तीर्णा सुविभक्त महापथा ।।

इस दृष्टि से आज की अयोध्या कलेवर में बहुत संकुचित हो गई लगती है। पर अयोध्या के आस-पास के वे तीर्थ जो इसके अंग रहे हैं यदि इसमें मान लिये जायें तो इसका क्षेत्रफल अपेक्षाकृत बड़ा हो जाता है। कुछ विद्वानों ने अयोध्या नगरी के आकार-प्रकार का अनुमान करने के लिए यहाँ की तीन परिक्रमाओं को आधार माना है। अयोध्या की चार परिक्रमाएँ प्रचलित हैं :—

(१) चौरासी कोश की परिक्रमा (२) चौदह कोश की परिक्रमा। (३) पंचकोशी परिक्रमा (४) अन्तर्गृही परिक्रमा।

इनमें प्रथम तीन वर्ष में एक बार की जाती हैं तथा चौथी अर्थात् अन्तर्गृही परिक्रमा नित्यविधान के अन्तर्गत है। पहली और चौथी परिक्रमा अधिकतर वीतरागी भक्तों में ही लोकप्रिय है, जबकि दूसरी और तीसरी संतों और गृहस्थों में समान रूप से लोकप्रिय है। चौरासी कोश की परिक्रमा के अन्तर्गत सूकरक्षेत्र, मनोरमा नदी, श्रृंगीऋषि का आश्रम, नन्दिग्राम तथा फैजाबाद जिले की पश्चिमी सीमा तक का क्षेत्र समाविष्ट है। निश्चय ही यह प्राचीन अयोध्या नगर की विशालता की सूचक है। चौदह कोश की परिक्रमा कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षयनवमी) को होती है। इसकी सीमा में पूरा फैजाबाद और अयोध्या नगर तथा इन दोनों नगरों के समीपवर्ती गाँव आ जाते हैं। पंचकोशी परिक्रमा देवोत्थानी एकादशी को होती है। इसमें मात्र वर्तमान अयोध्या नगर का भाग आता है। ये तीनों परिक्रमाएँ किसी न किसी धारणा और समय के अनुसार अयोध्यानगरी की सभाओं का बोध कराती हैं।

विक्रमादित्य के पश्चात् बार-बार अयोध्या राजनीतिक और धार्मिक संघर्षों की शिकार हुई है। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के शासनकाल में यहाँ कई अधीनस्थ राजाओं की सत्ता रही, इस कारण अयोध्या का स्वतन्त्र विकास अवरुद्ध रहा। अनेक देवस्थान मुसलमानों ने उजाड़ दिए, मूर्तियाँ खण्डित कर दीं। बहुत काल तक धार्मिक विप्लव तथा तनाव चलता रहा। श्रीराम जन्मभूमि का विवाद तो आज भी न्यायालय में चल रहा है।

अयोध्या मन्दिरों का नगर है। यहाँ मन्दिरों की संख्या हजारों में हैं, जिनमें श्रीरामजन्मभूमि, कनकभवन, हनुमानगढ़ी, रत्नसिंहासन, छोटी देवकाली, नागेश्वरनाथ, कालेराम मन्दिर, मणि रामदास जी की छावनी, बड़ी छावनी, वशिष्ठकुण्ड आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन स्थानों का अपना अलग-अलग रोमान्चकारी इतिहास है। अयोध्या के घाट, कुण्ड, टीले और पर्वत भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। यहाँ श्रावण, कार्तिक और चैत्र मेले का महीना होता है। सावन झूले के लिये, कार्तिक परिक्रमा व स्नान के लिये तथा चैत्र श्रीरामजन्मोत्सव के लिये प्रसिद्ध हैं। अयोध्या जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों का भी तीर्थ हैं। कहा जाता है कि जैन धर्म के २२ तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंशी थे और इनमें से पाँच का जन्म अयोध्या में ही हुआ था। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव स्वयं अयोध्या में जन्मे थे। जैन धर्मावलम्बियों में अयोध्या "ऋषभतीर्थ" के नाम से भी जानी जाती है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार गौतम बुद्ध ने अयोध्या में भी काफी समय तक निवास किया था और उपदेश किया था। रानूपाली में और मणिपर्वत के पास कुछ समय तक बौद्ध विहार स्थापित थे। अयोध्या में सरयू के पश्चिमी तट पर स्थित ब्रह्मकुण्ड कई सिक्ख गुरुओं की साधनाभूमि रही है। आज भी यह सिक्ख धर्मानुयायियों का प्रमुख धार्मिक स्थान बना हुआ है।

अयोध्या मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की पवित्र जन्मस्थली होने के कारण सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। इसके अतिरिक्त यह महर्षि पतञ्जलि, गौतमबुद्ध, आदिनाथ ऋषभदेव, महाकवि अश्वघोष, स्वामी भगवदाचार्य, गोस्वामी तुलसीदास जैसे महापुरुषों की साधनाभूमि भी है। प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में देश-विदेश के यात्री यहाँ पर्यटन के लिये आते हैं। इस तीर्थ का जैसा विकास और प्रबन्ध होना चाहिए, खेद की बात है कि, वैसा स्वतन्त्र-भारत में भी अभी तक सम्भव नहीं हो पाया। इस दिशा में शासन को और नागरिकों को यथेष्ट प्रयास करना चाहिए। अपनी अनन्त महिमा के कारण ही अयोध्या का नाम सप्तमोक्षदा पुरियों में सर्वप्रथम लिया गया है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥

●

बुद्ध कालीन कोसल की राजनैतिक स्थिति

प्रभा त्रिपाठो *

बुद्ध कालीन अन्य जनपदों की तुलना में कोसल, संभवतः मगध को छोड़कर, सर्वप्रमुख महाजनपद था। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों और अनेक पुराणों में कोसल का वर्णन एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्राप्त होता है।[1] वास्तव में कोसल का प्राचीन इतिहास इन ग्रंथों की अनुश्रुतियों से ही प्राप्त होता है। तदनुसार कोसल की प्रारम्भिक राजधानी अयोध्या थी, जिसे बौद्ध साहित्य में 'अयोज्झा' कहा गया है। पालि साहित्य का साकेत[2] संभवतः अयोध्या का ही पर्यायवाची है। किन्तु यहाँ पर हम कोसल के केवल उसी राजनीतिक इतिहास का वर्णन करेंगे जो हमें **सुतपिटक** अथवा **पालि निकायों** के अन्य भागों में प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में कोसल का महत्व इसलिए विशेष रूप से है कि भगवान बुद्ध अपने को 'कोसलक'[3] कहते थे। कोसल के उनके समयकालीन राजा प्रसेनजित[4] ने उनका सर्वाधिक आदर और सम्मान किया तथा कोसल की राजधानी श्रावस्ती के निकट जेतवन विहार में उन्होंने अपने उपदेशक जीवन के अधिकांश वर्ष व्यतीत किये। उनके स्वजातीय शाक्यों का जनपद और उनकी राजधानी कपिलवस्तु कोसल की अधिसत्ता स्वीकार करती थी।[5] जातकों[6] से कोसल राज्य के मगध, काशी, अंग और विदेह जैसे तत्कालीन राज्यों से समसामयिक सम्बन्धों की अनेक बातें ज्ञात होती है। साथ ही, कोसल के राजाओं महाकोसल, प्रसेनजित और विडूडभ की चर्चाओं से सुत्तपिटक भरा पड़ा है। इनमें सर्वाधिक चर्चायें हमें प्रसेनजित के सम्बन्ध में प्राप्त होती है। **संयुत्त निकाय**[7] का एक पूरा संयुत्त **कोसलसंयुत्त** ही कोसल की तत्कालीन राजनैतिक प्राशासनिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओं का चित्रण करता है। साथ ही, जातकों की अनेक कथायें भी कोसल के इतिहास और जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि **सुतपिटक** को रचना के कुछ दिनों पूर्व कोसल की राजधानी अयोध्या में हटकर श्रावस्ती चली गयी थी। डॉ० विशुद्धानंद[8] पाठक के मतानुसार अयोध्या का अन्तिम सूर्यवंशी राजा हिरण्यनाम था, जिसके उत्तराधिकारो बहुत शक्तिशाली नहीं थे। राम के दोनों पुत्रों लव और कुश द्वारा कोसल राज्य की दो शाखायें

---

* ४७ बी, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी।

१. देखिये वि० पाठक कृत—**हिस्ट्री आफ कोसल**, प्रथम अध्याय से पंचम अध्याय तक। **महाभारत** में कोसल, का वर्णन है—कुरुः सह पंजाला शल्वाः मत्स्याः सनेमिषाः। कोशला कोशपौण्ड्रश्चकेलिंगा मागधास्तथा। आठवाँ ४५, ६१८।

२. दे० **हिस्ट्री आफ कोसल**, पृ० ५५ और आगे।

३. "भगवापि कोसलको अहम्पिकोसलको, भगवापि खत्तियो, अहम्पि खत्तियो, भगवापि असीतिको, अहम्पि असीतिको।" धम्मचेतियसुत, **मज्झिम निकाय**, पा० टे० सो०, जिल्द २, पृ० १२४।

४. रीज डेविड्स के मतानुसार प्रसेनजित (पालि का पसेनदि) एक विरुद मात्र था। उसका असली नाम अग्निदत्त था। दे० **बुद्धिस्ट इण्डिया**, पृ० १०।

५. करोत्तिखो सक्या रञ्ञे पसेनदिहि कोसले निपच्चकारं अभिवादनं पच्चपट्ठानं अजीलकम्मं सामीचिकम्मं। **दीघनिकाय**, पा० टे० सो०, जि० ३ पृ० ८३।

६. देखिये **जातक** संख्यायें, २३, ३३६, ३७१, ४२८, ५३२ तथा ५३६।

७ **संयुत्त निकाय**, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद पृ० ६७ से ८८।

८ **हिस्ट्री आफ कोसल**, पृ० २०५।

स्थापित की गयी थीं। उनकी राजधानियां क्रमशः अयोध्या तथा श्रावस्ती थीं। दिवाकर नामक राजा के समय पुनः ये दोनों राज्य मिलकर एक हो गये। दिवाकर ने अयोध्या के शासक हिरण्यनाम पर आक्रमण करके उसके वंश का अंत कर दिया और श्रावस्ती पुनः समस्त कोसल की राजधानी हो गयी तथा कोसल राज्य एक बार पुनः चमक उठा। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि काशी के कोसल पर कई बार आक्रमण हुए थे। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय से थोड़ा पहले कोसल राज्य पुनः एक नयी शक्ति अर्जित करके काशी पर हावी होने लगा था। पहले तो कोसल के कुछ राजाओं ने काशी पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें सफलता हाथ नहीं लगी।[1] किन्तु धीरे-धीरे काशी का राज्य जब कमजोर होता गया तो कोसल उससे बीस पड़ने लगा। ऐसे समय में ही काशी के अनेक मंत्रियों अथवा राजकुमारों ने कोसल से मिलकर काशी को जीतने में उसकी सहायता की। ऐसी चर्चायें हमें महाशील जातक (सं० ५१), घट जातक (सं० ३५५), मणिकुण्डल जातक (सं० ३३१) और एकराज जातक (सं० ३०३) में मिलती हैं। अतः काशी को कोसल ने किस प्रकार अपने में पूरी तरह आत्मसात कर लिया, इसकी ठीक जानकारी हमें नहीं प्राप्त होती है. किन्तु सेव्य जातक (सं० २८२) और तेसकुन जातक (सं० ५२१) की सूचनानुसार काशी को कोसल में मिलाने वाला राजा कंस था, जिसे 'वाराणसिग्गहो' अर्थात् 'वाराणसी को जीतने वाला,' कहा गया है।[2] यह घटना बुद्ध के समय से कुछ पहले की प्रतीत होती है। जब **अंगुत्तरनिकाय** की रचना पूरी हुई तो उस समय सोलह महाजनपदों में काशी को एक पूर्ण रूप से स्वतंत्र जनपद बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय तक काशी की स्वतंत्रता की स्मृति ताजी थी। किन्तु यह निश्चित है कि बुद्ध के समकालीन कोसल नरेश प्रसेनजित के पिता महाकोसल के समय काशी कोसल का एक अभिन्न भाग हो चुका था। हरितमात जातक (सं० २३१) और वड्ढाकिस्कर जातक (सं० २८३) से ज्ञात होता है कि जब महाकोसल ने अपनी पुत्री महाकोसला का विवाह मगधराज विम्बिसार से किया तो उसने काशी गाँव की आय को देहज[3] के रूप में महाकोसला को दिया। **लोहिच्चसुत्त**[4] से भी ज्ञात होता है कि काशी कोसल का एक अभिन्न भाग था और संभवतः वहाँ प्रसेनजित का कोई और भाई उसकी ओर से शासन करता था, जिसकी उपाधि काशीराज थी।

सुत्तपिटक से कोशल के जिन राजाओं की सबसे अधिक जानकारी प्राप्त होती है, वे थे बुद्ध के समकालीन नरेश प्रसेनजित और विडूडभ। प्रसेनजित कोसल का सबसे अन्तिम प्रसिद्ध राजा था। एक स्थान पर प्रसेनजित बुद्ध से तुलना करता हुआ अपने को उन्हीं का नाईं कोसलक, क्षत्रिय और अस्सी वर्ष का बताता है।[5] राकहिल[6] का मत है कि बुद्ध और प्रसेनजित सम्भवतः एक दिन पैदा हुए थे और प्रसेनजित की शिक्षा-दीक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी। बुद्ध के परिवार से आत्मीयता बढ़ाने के लिए प्रसेनजीत ने शाक्य राजकुमारी (वास्तव में दासी पुत्री) वासभखत्तिया से विवाह किया था। **धम्मपद अट्ठकथा से** ज्ञात होता है कि महाकोसल ने प्रसेनजित को अपने जीवन काल में ही राज्याभिषिक्त कर दिया था। उसके समय कोशल का राजनैतिक महत्व

---

१. अलीनचित्त जातक सं० १५६।

२. दे० हेमचन्द्र राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियन्ट इण्डिया, पृ० ११६ और बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २५।

३. मूलपाठ में इसे 'स्नानचूर्ण मुष्टिधन' कहा गया है, अर्थात् स्थान करने के बाद शरीर में लगाये जाने वाले पावडर, तेल और अन्य पदार्थों की खरीद के लिए द्रव्य। राधाकुमद मुखर्जी ने इसे 'अभिषेक मूल्य' कहा है। दि हिन्दू सिविलाइजेशन का हिन्दी अनुवाद पृ० १९४।

४. दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद पृ० ८४, वि० च० लाहा, ट्राइब्स इन एशियंट इण्डिया, पृ० ११०, मलालशेखर, डिक्शनरी आफ पालि प्रापरनेम्स, संदर्भ काशी।

५. दे० **धम्म चेतिय सुत्त, मज्झिमनिकाय**, राहुल सांकृत्यायन कृत **बुद्धचर्या** पृ० ४३७ और आगे।

६. राकहिल, लाइफ आफ बुद्ध, पृ० १६ यह मत तिब्बती दुल्व के आधार पर व्यक्त करते हैं।

७. पा० टे० सो०, जिल्द १, पृ० ३३६।

मगध के बराबर ही था। कोसल का अधिकार क्षेत्र काशी के ऊपर भी विस्तृत था। **दीघनिकाय**[1] में प्रसेनजित को काशी और कोसल दोनों का राजा कहा गया है। **मज्झिम**[2] **निकाय** से सूचना मिलनी है कि प्रसेनजित काशी से अत्यन्त प्रेम करता था और उसका कोई सगा भाई ही काशी पर शासन करता था, जिसकी उपाधि काशीराज थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कपिलवस्तु के शाक्यों के अतिरिक्त पावा और कुसीनारा के मल्ल, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, तथा आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित अन्य सभी गणतंत्र कोसलराज की अधिसत्ता स्वीकार करते थे।[3] इनके साथ ही केसपुत्त के कालामों[4] को भी कोसल राज्य के अधीन माना गया है। उपरोक्त सभी गणतंत्र कोसलराज की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए आन्तरिक स्वतंत्रता का भोग करते थे। जबतक बुद्ध जीवित रहे, प्रसेनजित उनका आदर करता रहा। किन्तु प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ (पुराणों का विदक) ने इस नीति को उलट दिया। भद्दसाल जातक (सं० ४६५) से यह ज्ञात होता है कि उसे जब यह ज्ञात हुआ कि शाक्यों ने जब उसे धोखा देकर उसकी माँ दासी वासभखत्तिया का विवाह प्रसेनजित से कर दिया था और स्वयं उसके कपिलवस्तु जाने पर शाक्यों ने उसका अनादर किया तो वह उनसे अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। उसने उनका अंत कर डालने की प्रतिज्ञा कर डाली। बुद्ध के दो बार के हस्तक्षेपों के बावजूद उसने शाक्यों पर चढ़ाई कर दी और शाक्य जनपद का अन्त कर डाला तथा उसके क्षेत्रों को अपने राज्य में मिला लिया।

कोसल की राजनीतिक स्थिति की चर्चा कोसल-मगध सम्बन्धों की चर्चा के बिना पूरी नहीं मानी जा सकती। बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर अपनी-अपनी राजनीतिक संप्रभुता स्थापित करने हेतु एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। यही नहीं दोनों राज्यों के राजा जैसे कोसल का प्रसेनजित और मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु बुद्ध से निकटता और सौहार्द्र स्थापित करने का प्रयत्न करते थे। उस समय की सर्वप्रथम राजनीतिक प्रवृत्ति यह थी कि बिम्बिसार और अजातशत्रु के नेतृत्व में मगध महाजनपद एक छोटे से भूक्षेत्र में बँधे रहने मात्र से संतुष्ट नहीं था और वह साम्राज्य के रूप में विकसित होने का प्रयत्न प्रारम्भ कर चुका था। उसके राजनैतिक और सैनिक अभियानों की आँच जहाँ एक और और अंग, विदेह, लिच्छवि और मल्ल जैसे गणतन्त्रों को सहनी पड़ी, उसी प्रकार कोसल जैसा शक्तिशाली राजतन्त्र भी उसके सैनिक दबावों से अछूता नहीं बचा। तथापि वह महाकोसल और प्रसेनजित की चतुराई से मगध के चंगुल से बहुत दिनों तक बचा रहा। कोसलराज महाकोसल ने अपनी पुत्री महाकोसला का विवाह मगधराज बिम्बिसार से कर दिया और उसे दहेज के रूप में काशी का एक गाँव दे डाला, जिससे एक लाख सिक्कों की आय होती थी।[5] किन्तु देवदत्त के प्रभाव में आकर अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का बध कर डाला और महाकोसला विधवा हो गयी। तत्पश्चात् दोनों राज्यों के आपसी सम्बन्ध फिर बिगड़ गये। सम्भवतः महाकोसला दुःख के कारण या तो मर गयी या अपने पिता अथवा भाई के यहाँ चली गयी। कोसलराज ने अप्रसन्न होकर काशी का दहेजवाला गाँव वापस ले लिया। कदाचित् इसी समय प्रसेनजित गद्दी पर बैठा और उसने भी अपने पिता के समान गाँव सम्बन्धी उपयुक्त निर्णय चालू रखा।[6] किन्तु अजातशत्रु जैसे शक्तिशाली राजा को यह मान्य नहीं था, और अन्ततः कोसल और मगध की मित्रता समाप्त होकर शत्रुता और युद्ध में परिणत हो गयी। और जो युद्ध हुआ उसमें

---

[1] दीघ निकाय, सारनाथ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ८४।

[2] दे० सुत्त संख्या ८७ (२।४।७)।

[3] करोन्ति खो सक्या रञ्जे पसेनदिम्हि कोसलेनिपञ्ञ्चकारं अभिवादनं पञ्चपट्ठानं अंजलिकम्मं सामचिकम्मं। दीघनिकाय, पा० टे० सो०, जिल्द ३, पृष्ठ ८३।

[4] अगुत्तर निकाय, पृ० १८८; उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० १०७ पाद टिप्पणी २ में उद्धृत।

[5] हरितमात जातक, सं० २३९, बड्ढकिसुकर जातक सं० २८३, और तच्छसुकर जातक सं० ४९२।

[6] हिस्ट्री आफ कोसल, पृ० २१२।

कदाचित् वैशाली के लिच्छवि भी कोसल नरेश की ओर से लड़े थे।[1]

मगध और कोसल के युद्धों का विवरण **संयुत्त-निकाय**[2] के दो सूत्रों में मिलता है। इन दोनों से यह ज्ञात होता है कि युद्ध के प्रथम दो दौरों में प्रसेनजित हारा, किन्तु तीसरे दौर में विजयी हुआ और अजातशत्रु को बंदी बना लेने में सफल हो गया। किन्तु उसने अजातशत्रु के प्राण इसलिए नहीं लिए कि वह रिश्ते में उसका मांजा लगता था। तथापि उसने अजातशत्रु की सेना उससे छीन ली। **संयुत्तनिकाय** का यह विवरण उन दोनो के बीच हुए युद्ध का अन्तिम विवरण नहीं प्रतीत होता है। **तच्छसूकर** जातक (सं० ४६२) की वर्तमान कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों में आगे भी युद्ध हुए जिनमें प्रसेनजित द्वारा अन्त में धनुग्गतिस्स और मन्तिदत्त नाम के दो बौद्ध भिक्षुओं की दोनों पक्षों की युद्ध सम्बन्धी आपसी बातचीत अपने गुप्तचरों द्वारा सुनकर प्रसेनजित को युद्ध सम्बन्धी अपनी भूल ज्ञात हुई और उसने शकट युद्ध का प्रयोग कर अन्त में अजातशत्रु को पकड़ने में सफलता पाई। इस विवरण का समर्थन **बड्ढोकरसूकर** जातक (सं० २८३) से भी होता है। किन्तु अन्तिम रूप में यह ज्ञात होता है कि दोनों पक्षों ने आपस में सन्धि कर ली और प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। महाकोसल को दिये गए काशी के जिस दहेज वाले गांव को लेकर सारे झगड़े और युद्ध हुए थे उस गांव की आमदनी फिर वाजिरा के माध्यम से अजातशत्रु को सौंप दी गयी।[3]

अजातशत्रु और प्रसेनजित की यह मित्रता आगे प्रसेनजित के जीवन पर्यन्त बनी रही। भद्दसाल जातक और **मज्झिम निकाय** से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने जब उसे जबरदस्ती अपदस्थ कर दिया तो वह अपनी रक्षा के लिए अजातशत्रु की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर भागा। यह उसका दुर्भाग्य ही था कि अजातशत्रु से भेंट होने के पहले ही पाटलिपुत्र की चाहारदीवारी के बाहर उसकी अतिसार नामक रोग से मृत्यु हो गयी और अपनी राजगद्दी पुनः वापस प्राप्त करने के लिए मगधराज से सहायता प्राप्त करने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिला।[4]

प्रसेनजित को अपदस्थ कर उसके पुत्र विडूडभ ने कोसल की राजगद्दी हथिया ली।[5] परन्तु उसके समय से कोसल राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गयी और दो ही पुश्तों के बाद सुमित्र नामक शासक कोसल का अंतिम राजा साबित हुआ। मगध नरेश ने सुमित्र को पराजित कर तथा कोसल को जीतकर उसके क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। पुराणों में इस सुमित्र को कोशल का अन्तिम राजा कहा गया[6] है जिसे अजातशत्रु के किसी वंशज ने समाप्त किया होगा।

---

[1] वहीं, पृ० २१२-१३ डि० पा० प्रा० ने०, जिल्द १ पृ० ३१ और आगे जिल्द २, पृ० १०१ और ७८१ और पौलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, १२-१३।

[2] दे० पठम संगाम सुत्त ३।२।४, दुतिय संगाम सुत्त ३।२।५।

[3] संयुत्त निकाय १।८४-६, जातक सं० ३४२, धम्मपद टीका, ३।२५६।

[4] दे० हिस्ट्री आफ कोसल, पृ० २१५-२१६।

[5] वहीं पृ० २१६-३०।

[6] इस्पाकुणामयवंशः सुमित्रान्तो भविष्यति। भागवतपुराण नवां १२, १६, मत्स्यपुराण, २७०-१६, विष्णुपुराण, चतुर्थ २२, १६, शिवपुराण, द्वितीय, ५३९-४२। डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज, पृ० ६७।

बौद्ध संघ और कोशल

सीताराम दुबे*

कोशल तत्कालीन चार राजतन्त्रीय राज्यों में से एक था और उसकी राजधानी श्रावस्ती थी। बुद्ध के जीवन का अधिकांश भाग कोशल, विशेषकर श्रावस्ती, में बीता। यद्यपि श्रावस्ती आजीविकों के केन्द्र के रूप में विदित है,[१] तथापि बौद्ध धर्म को यहाँ पर्याप्त सफलता मिली। प्राप्त तथ्यों के अध्ययन के आधार पर यह कहना कठिन नहीं कि बौद्ध संघ की आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से यह विशेष महत्व का रहा। वस्तुतः संघ संस्थापन की दृष्टि से यह जहाँ सारनाथ का, संघ की प्रारम्भिक संख्या वृद्धि की दृष्टि से राजगृह का महत्त्व रहा, वैसे ही भिक्षुओं और उपासकों की संख्या-वृद्धि एवं संघ की आर्थिक-समृद्धि की दृष्टि से कोशल की राजधानी श्रावस्ती का विशेष महत्त्व है। इसके कारणभूत तत्व प्रसेनजित का राजकीय संरक्षण और अनाथपिण्डिक, विशाखा जैसे उपासक-उपासिका, श्रेष्ठियों के मुक्तहस्त से दान है। कोशल में बुद्ध और बौद्ध संघ ब्राह्मणों की श्रद्धा प्राप्ति की दृष्टि से भी विशेष महत्व का रहा। यहाँ न केवल साधारण ब्राह्मण अपितु जानुस्सोणि, पोक्खरसाति, चेकि, लोहिच्च, तोदेय, जैसे समृद्ध और वशिष्ठ, भारद्वाज, ब्रह्मायु जैसे विद्वान् ब्राह्मणों ने भी बौद्ध-धर्म स्वीकार किया।[२] वस्तुतः पिलोतिक का जानुस्सोणि से यह कथन कि 'चाहे जो भी हो, किसी वर्ग का हो बुद्ध-वार्ता से प्रभावित हो शरणागत बन कर ही जाता है'[3] कोशल देश के बारे में सर्वथा उपयुक्त है और वहाँ बुद्ध को अतिशय श्रद्धा-वृद्धि का द्योतक है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि बुद्ध ने चौदहवीं, बीसवीं और उसके बाद की अधिकांश वर्षाएँ श्रावस्ती में बिताई[४]। कोशल में बुद्ध ने अधिकांश एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपदेश भी दिये। चूँकि कोशल के कई क्षेत्रों में आजीविक आदि बुद्ध के सबल प्रतिद्वन्द्वी थे, अतः उन्हें जनमानस को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए यहाँ एकाधिक बार प्रातिहार्य प्रदर्शन भी करना पड़ा।

श्रावस्ती अतिसमृद्ध नगर था और बुद्धकालीन छः महानगरों में इसका भी स्थान था।[५] बुद्ध का श्रावस्ती में प्रथम आगमन अनाथपिण्डिक के आमन्त्रण का परिणाम था। बुद्ध कपिलवस्तु से लौटकर शीतवन मे ठहरे। इस अवसर पर श्रावस्ती का अनाथपिण्डिक वहां उपस्थित था। अपने मित्र की बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा से प्रभावित होकर वह रात्रि को ही बुद्ध के दर्शन करने के लिए गया तथा उनकी प्रतिभा एवं उपदेश से प्रभावित होकर शरणागत उपासक बना। दूसरे दिन भिक्षु-संघ के साथ बुद्ध को अपने मित्र के घर आमन्त्रित कर उसने भोजन कराया। इसी अवसर पर उसने श्रावस्ती में बुद्ध और बौद्ध-भिक्षुओं के लिए विहार-निर्माण कराने की अनुमति मांगी तथा बुद्ध से श्रावस्ती में वर्षावास की प्रार्थना की। इस सेठ ने श्रावस्ती लौटते समय मार्ग में न केवल लोगों को बौद्ध-भिक्षुओं के लिए आराम बनवाने के लिए प्रेरित किया, अपितु गरीबों

---

* प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

१. वैशम, ए० एल०, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ आजीविकाज (१९५९), पृ० १३२।

२. दत्त, नलिनाक्ष, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (१९५६) अध्याय ५, ''कोसल के ब्राह्मण''।

३. मज्झिमनिकाय, चूल हत्थिपदोपम सुत्त।

४. यद्यपि विद्वानों ने बुद्ध के श्रावस्ती में चौदहवीं, बीसवीं और इसके बाद की सभी वर्षाएँ व्यतीत करने की बात स्वीकार करते हुए यहाँ उनके २६ वर्षावासों का उल्लेख करते हैं, पर प्राचीन बौद्ध परम्परा, स्वयं दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्त के आधार पर यह सुविदित है कि बुद्ध ने अन्तिम वर्षा वैशाली के निकट वेलुतग्राम में व्यतीत की। अतः यह सम्भव है कि इसी प्रकार से कुछ अन्य वर्षाएँ भी बुद्ध ने किन्हीं अन्य स्थलों पर बिताई हों।

५. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, एवं महासुदस्सनसुत्त।

को प्रचुर धन देकर निर्माण में सहयोग किया। श्रावस्ती पहुँचकर अनाथपिण्डिक ने भिक्षुओं के लिए विहार बनवाने की दृष्टि से जेतवन को चुना। इस उपवन के स्वामी जेत राजकुमार, जिसने प्रथमतः तो मनोवाञ्छित मूल्य पर भी उसे न देने का हठ किया था, बाद में बुद्ध के लिए दान की बात सुन न केवल कम मूल्य में जेतवन दिया, बल्कि प्राप्त मूल्य से स्वयं विहार में कक्षयुक्त फाटक बनवाया। जेतवन में अनाथपिण्डिक ने विभिन्न प्रयोग की शालाओं से युक्त विहार बनवाया और बुद्ध तथा उनके शिष्यों को भोजन कराने के अवसर पर उसे भिक्षुसंघ को दान कर दिया। उक्त जेतवन विहार को बुद्ध ने शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा तीनों ऋतुओं के योग्य माना था।[१] बौद्ध परम्परा अनाथपिण्डिक के बुद्ध के पास अनेकदा जाने, उपदेश से प्रभावित होने और प्रशंसा प्राप्त करने का उल्लेख करती है। अनाथपिण्डिक के इस प्रकार के मुक्त-हस्त से दान और जेतवन के निर्माण से संघ की आर्थिक समृद्धि तो हुई ही, साथ ही बौद्ध-धर्म की अतिशय ख्याति-वृद्धि के कारण अन्य सम्प्रदायवादियों एवं सामान्य जनता के आकर्षित होने से बुद्ध के अनुयायियों की संख्या भी बढ़ी। जेतवन विहार के प्रति बुद्ध का प्रेम सर्वविदित है। उन्होंने यहाँ अपने उन्नीस वर्षावास व्यतीत किये।। इस विहार की विशालता का इस बात से भी संकेत मिलता है कि यहाँ यदा कदा १२५० भिक्षुओं के विहार करने का उल्लेख है।[२] अपने दान सम्बन्धी कृत्यों और बौद्ध-धर्म के प्रति अतिशय श्रद्धा के कारण अनाथपिण्डिक का दानदाता उपासकों में प्रथम स्थान था।[3] अनाथपिण्डिक की झगड़ालू पुत्र बधू सुजाता को सुधारने का श्रेय भी बुद्ध को दिया जाता है।[४]

अपनी राजधानी में बुद्ध के आगमन को सुन कर प्रसेनजित ने उनके पास जाकर आगमन पर अपना सौभाग्य स्थापन किया, तथा वहीं बुद्ध से राजधर्म, जगत की निस्सारता आदि से सम्बद्ध उपदेश सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुआ।[४] जेतवन के निकट ही उसने सललघर नामक विहार बनवाकर भिक्षु संघ को दान दिया था।[५] पालि साहित्य में प्रसेनजित का बुद्ध के दर्शन, उपदेश श्रवण आदि के लिये अनेक बार जाने और उनके प्रति श्रद्धा स्थापन का उल्लेख प्राप्त होता है। आनन्द की वार्ता से प्रसन्न होकर प्रसेनजित ने उन्हें सोना-चाँदी देने की इच्छा व्यक्त की, पर अविहित होने के नाते सोलह हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा वस्त्र प्रदान किया।[७] अंगुलिमाल के बौद्ध-भिक्षु हो जाने के अवसर पर प्रसेनजित बुद्ध के पास गया था और अंगुलिमाल के समक्ष उसकी चीवर भिक्षान्न आदि से परिचर्या की इच्छा व्यक्त की थी।[८] निकायों में गृही उपासक के रूप में उसकी संघ के प्रति विशेष श्रद्धा और साहाय्य के अनेकधा उल्लेख हैं। शाक्य-भिक्षुओं में अधिक श्रद्धा-स्थापन के लिये उसने शाक्य-कुमारी से विवाह की इच्छा व्यक्त की[९] तथा गर्व से बुद्ध एवं स्वयं को एक ही अवस्था का बताया।[१०] दूसरी शती ईसापूर्व की बौद्ध कला में प्रसेनजित द्वारा बुद्ध से भेंट का चित्र पहचाना गया है।[११]

---

१. विनय, चुल्लवग्ग, ६, ४ और ६, ६।
२. संयुत्तनिकाय, ८, ८ (परोसहस्ससुत्त)।
३. अंगुत्तरनिकाय, १, १४ (च, २)।
४. अंगुत्तरनिकाय, ७, ६, १० (मरियासुत्त)
५. मज्झिमनिकाय, धम्म चैतिय सुत; संयुक्तनिकाय, ३,१ और आगे।
६. दीघनिकाय, व्याख्या जिल्द २, पृ० ४०७, उद्धृत उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारत का भूगोल (वि०स० २०१८) पृ० २४०।
७. मज्झिमनिकाय, वाहितिकसुत्त।
८. मज्झिमनिकाय, अंगुलिमालसुत्त।
९. धम्मपद अट्ठकथा, जिल्द १, पृ० ३:६ और आगे. उद्धृत मलालशेखर डिक्शनरी, जिल्द २, पृ० १४१।
१०. मज्झिमनिकाय, धम्म चेतियसुत्त।
११. दत्त, नलिनाक्ष, अर्ली हिस्ट्री आफ दी स्प्रेड आफ बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिष्ट स्कूल (१९२५) पृ० ७१।

न केवल प्रसेनजित अपितु राज-परिवार के बहुत से सदस्य सद्धर्म के प्रति श्रद्धालु थे। प्रसेनजित की रानी मल्लिका बुद्ध के उपदेश से प्रसन्न हो उपासिका बनी थी।[१] प्रसेनजित के प्रमुख पांच राजा काम-भोग सम्बन्धी ज्ञान के लिए बुद्ध के पास गये, जिन्हें बुद्ध ने पूर्ण सन्तुष्ट किया।[२] प्रसेनजित की बहन राजकुमारी सुमना भी बौद्ध धर्म में अनुरक्त थी। इसका भी जेतवन में बुद्ध के दर्शन के लिये जाना वर्णित है। यह प्रसिद्ध उपासिकाओं में एक थी। अपनी दादी की मृत्यु के अनन्तर इसने न केवल प्रसेनजित के साथ जाकर संघ को धुस्स और दरी प्रदान की, बल्कि अनागामी होकर अर्हत्व प्राप्त किया।[३] प्रसेनजित के माता की मृत्यु के अनन्तर आसन-शयन की बहुत सी अविहित वस्तुएँ—आसन्दी, पलंग, गोतक, आदि संघ को मिली, जिसे रूप परिवर्त्तन के साथ भिक्षुओं में प्रयोग की अनुमति बुद्ध ने दी।[४]

जेतवन में बुद्ध के २०वें वर्षावास के समय आनन्द बुद्ध का अन्तिम उपस्थाक नियुक्त हुआ था।[५] यहाँ बुद्ध के वास करते समय कई स्त्री पुरुषों ने आकर उपासकत्व स्वीकार किया। इनमें कुछ बुद्ध के प्रातिहार्य-प्रदर्शन से प्रभावित थे, परन्तु अधिकांश उनके व्यक्तित्व और वार्त्ता से। श्रद्धालु उपासकों में ब्राह्मणों द्वारा प्रदत्त श्रद्धा अविस्मरणीय है। प्रभावित उपासकों में जानुस्सोणि ब्राह्मण, पिंगलकोच्छ ब्राह्मण, सुन्दरिका भारद्वाज, पिलोतिक परिव्राजक, वेरञ्जा के ब्राह्मण आदि के और इसी प्रकार उपासिकाओं में वोज्झा, सानुमाता आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[६] वेलु कट्टकी नन्दमाता का नाम सारिपुत्र-मोद्गल्यायन के प्रमुख भिक्षु-संघ को षड्ंग-दक्षिणा देने के कारण विशेष ख्याति प्राप्त है।[७] पंचकांग थपित उपासक ने आनन्द-प्रमुख चार भिक्षुओं को भोजन कराया था।[८] वहीं ब्रह्मदेव ब्राह्मण एवं हत्थिसारपुत्र आदि ने प्रव्रज्या उपसम्पदा ग्रहण की थी।[९] यहीं पर पण्डुक-लोहितक को लेकर तर्जनीय कर्म तथा अरिट्ठ (गन्धबादिश्व) के बुरी धारणा न छोड़ने पर उत्क्षेपणीय कर्म का नियम बना।[१०]

विशाखा न केवल कोशल की उपासिकाओं में अपितु बौद्ध-संघ की समग्र उपासिकाओं में दायिका के रूप म अग्रगण्य थी।[११] यह अंगदेश के धनिक श्रेष्ठी धनञ्जय की पुत्री थी तथा श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार-पुत्र पूर्णवर्धन से ब्याही थी। विशाखा पितृ-गृह से ही बुद्ध के प्रति श्रद्धालु थी। यद्यपि मिगार पहले निगण्ठनाथपुत्र का भक्त था, पर विशाखा की प्रेणा से बौद्ध उपासक बना।[१२] विशाखा ने भिक्षुओं के लिये मिगारमातुपासाद पूब्बाराम नामक अतिभव्य आराम बनवाकर ‘आगत अनागत चातुद्दिश भिक्षु-संघ’ को ससत्कार प्रदान किया।[१३] श्रावस्ती के जेतवन विहार के समान यह स्थान भी बुद्ध का प्रिय आवास था।

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ४,२०,७ (मल्लिकादेवीसुत्त)।

२. संयुत्तनिकाय, ३,१२ (पंचराजसुत्त)।

३. अंगुत्तरनिकाय, ८,१०। अंगुत्तरनिकाय, ५,४,१ (सुमनसुत्त), (सुमनावर्ग), थेरोगाथा, गाथा, सं० १६।

४. विनयचुल्लवग्ग, ६,१४।

५. रोसडेविड्स, साम्स आफ अर्ली बुद्धिस्टस (१९६४) जिल्द २, ब्रेदरेन गाथा सं० २६०, आनन्द का संदर्भ।

६. मज्झिमनिकाय, क्रमशः भयभैरवसुत्त, सूलसारोपम सुत्त, वत्थसुत्त, चूलहत्थिपदोपमसुत्त, वेरञ्जासुत्त आदि।

७. अंगुत्तरनिकाय, ६,४,७ (दानसुत्त)

८. मज्झिमनिकाय, अनुरुद्धसुत्त।

९. क्रमशःसंयुत्त निकाय, ६, ३, (ब्रह्मदेवसुत्त) और दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त।

१०. विनय, चुल्ल वग्ग १, १ तथा १, ३२।

११. अंगुत्तरनिकाय, १, १४ (६, २), तुलनीय २, १२, ३, ४, १८, ६ (आयाचनसुत्त)।

१२. संयुत्तनिकाय, १७, २३ (एकपुत्तकसुत्त)।

१३ देखें मलाल शेखर डिक्शनरी (१९६०), जिल्द २, पृ० ६२८–२९ (मिगार मातुपासाद का संदर्भ)।

कई बार भिक्षु संघ के साथ बुद्ध को आमन्त्रित कर विशाखा ने भोजन कराया । एक ऐसे ही अवसर पर उसने बुद्ध से, यावज्जीवन संघ को वर्षासाटिका, नवागन्तुकों एवं गन्तुकों, तथा रोगी और रोगी-परिचारकों को भोजन, नित्य सुवेरे यवागू-दान, रोगियों को दवा तथा भिक्षुणियों को उदक-साटी प्रदान करने की, अनुमति प्राप्त की ।[1] विशाखा भिक्षुओं को मुख पोंछने के वस्त्र देने, झाड़ू, ताड़पत्र के पंखे आदि देने, और उसके प्रयोग के नियम बनवाने में भी सफल हुई ।[2] पालिसाहित्य में यत्र-तत्र बुद्ध का विशाखा के लिये आठ स्त्री-गुणों के पालन का उपदेश वर्णित है ।[3] गणक मोग्गलान बुद्ध-वार्त्ता से प्रभावित हो यहीं बौद्ध-उपासक बना था और इसी पूव्वाराम में पवारणा सम्बन्धी नियम प्रभाव में आया था ।[4] विशाखा ने प्रव्रज्या सम्बन्धी नियम संशोधन में सफलता प्राप्त की साथ ही भिक्षुओं के लिए एक विशेष प्रकार के भवन के प्रयोग का विधान बनवाया ।[5]

श्रावस्ती के राजकाराम में भी बुद्ध के विहार का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ एक हजार भिक्षुणियां आयीं, और बुद्ध ने उन्हें धर्म एवं संघ के प्रत्ति श्रद्धा तथा शील के विषय में उपेदेश दिया ।[6] बुद्ध की वार्त्ता से प्रसन्न हो चण्डग्रामिणी के उपासक बनने तथा बावरी की दीक्षा भी संघ-समृद्धि की दृष्टि से महत्व की है । यह प्रसेनजित के पुरोहित परिवार में उत्पन्न था, पर कालान्तर में गोदावरी तट पर अस्सक के शासक द्वारा क्षेत्र प्राप्त कर शान्ति-गवेषणा हेतु रहने लगा । बुद्ध की प्रतिष्ठा सुनने पर इसने अपने सोलह शिष्यों को बुद्ध की परीक्षा लेने के लिये श्रावस्ती भेजा, पर बुद्ध राजगृह में मिले । यहाँ प्रभावित होकर उसके सभी शिष्य भिक्षु बन गये और बाद में बावरी भी भिक्षु बना ।[7] यद्यपि बावरी के शिष्यों की दीक्षा मगध में सम्पन्न हुई, पर उक्त तथ्य से यह आशय लिया जा सकता है कि बुद्ध के जीवन-काल में ही सद्धर्म यश-वृद्धि दक्षिण में गोदावरी तट तक अर्थात् पैठन के आस-पास तक हो गयी थी । अवन्ति तक सद्धर्म के प्रायोगिक विस्तार को देखते हुए कदाचित् यह असम्भव भी नहीं कहा जा सकता ।

कोकालि देश के श्रेष्ठिपुत्र (चूल) कोकालिक का उल्लेख मिलता है । यद्यपि कौकालि देश को निश्चित पहचान नहीं हो सकी है, पर इसके श्रावस्ती के निकट होने की सम्भावना है ।[8] इसी प्रकार अपेक्षाकृत अन्य स्थलों के श्रावस्ती में सद्धर्म-प्रभावितों की मात्रा अधिक थी । यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता, क्योंकि बुद्ध ने अपने जीवन के सर्वाधिक दिन यहीं बिताये और सर्वाधिक उपदेश भी यहीं दिये ।[9]

श्रावस्ती के अतिरिक्त कोशलदेश में अन्य अनेक स्थलों पर बुद्ध के जाने, वहाँ उपासकों एवं भिक्षुओं की संख्यावृद्धि और उनका संघ के प्रति सहयोग आदि का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है । इनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—

कोशल के एकसाला, नगरविन्द, मनसाकटक, वेनागपुर दण्डकप्पक और वेलुवद्वारा आदि ग्राम विशुद्ध ब्राह्मण ग्राम थे । मनसाकटक तारुक्ख, जानुस्सोणि तोदेय्य का आवास था,[10] जिन्होंने बुद्ध का उपासकत्व स्वीकार कर संघ-समृद्धि का बहुविध प्रयास किया ।

---

[1] विनय, महावग्ग, ८, १५ ।

[2] विनय, महावग्ग, ८, १८ और विनय, चुल्लवग्ग ५, २२ ।

[3] अंगुत्तरनिकाय ८, ५, ३ (विशाखासुत्त) ।

[4] संयुत्तनिकाय, ८, ७ (पवारणासुत्त) ।

[5] विनय, महावग्ग, ९३, १३ साथही विनय, चुल्लवग्ग ६, १४ ।

[6] संयुत्तनिकाय, ५५, ११ सहस्सभिक्खुनिसंघसुत्त) ।

[7] वही, ४२, २ (चण्डसुत्त) तथा सुत्तनिपात गाथा ९७६ और आगे ।

[8] संयुत्तनिकाय, ६, ७–६, १० (कोकालिक सुत्त और आगे) तुलनीयसुत्त निपात, कोकालिकसुत्त ।

[9] तुलनीय, उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारत का भूगोल, पृ० २३७-३८ ।

[10] दीघनिकाय, तेविज्ज सुत्त, तुलनीय सुत्तनिपात वासेट्ठ सुत्त ।

इच्छागांगल वनखंड कोसलदेश का एक प्रसिद्ध ग्राम था, जहाँ भिक्षु-संघ के साथ बुद्ध ने यात्रा की। यहाँ के ब्राह्मण सम्मिलित रुप से भिक्षु संघ को अनेक प्रकार के पक्वान्न अर्पित करने के लिये गये, परन्तु अतिशय शोर के कारण बुद्ध ने उपस्थाक नागित को कोलाहल शान्त करने के लिए भेजा और साथ ही भोजन स्वीकृति से इन्कार कर दिया।[१] यह घटना एक तरफ जहां बुद्ध के प्रति ब्राह्मणों की अतिशय श्रद्धा का द्योतक है, वहीं बुद्ध की शान्तिप्रियता का भी परिचायक है। यहीं के वनखण्ड में बुद्ध के तीन मास तक शान्ति प्राप्ति के प्रयास में तल्लीन रहने का उल्लेख प्राप्त होता है, जब मात्र एक भिक्षु भोजन लेकर उनके पास जा सकता था।[२]

इच्छागांगल वनखण्ड में बुद्ध का आगमन जान, प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त करमुक्त ग्राम अकट्ठा के स्वामो योक्खरसाति ने उनकी परीक्षा के लिये अपने शिष्य को भेजा, और शिष्य की पराजय तथा बुद्ध की प्रशंसा सुनने के बाद उसने स्वयं बुद्ध के साथ भिक्षु-संघ को आमन्त्रित कर भोजन भी कराया।[3] यहाँ के वशिष्ट ओर भारद्वाज जैसे अन्य ब्राह्मणों ने भी बुद्ध को वार्त्ता से प्रभावित होकर उपासकत्व अथवा बौद्ध भिक्षुता स्वीकार कर ली थी।

कोशल के चण्डलकप्प स्थित तोदेय्य के आम्रवन में बुद्धावास की बात ज्ञात होती है, जहां धनज्जानि ब्राह्मणी की प्रेरणा पाकर सारंगव ब्राह्मण बौद्ध उपासक बना।[५]

बुद्ध-विहार की दृष्टि से साकेत भी महत्त्वपूर्ण था, और यह भी बुद्धकालीन छः महानगरों में एक था।[६] साकेत की पहचान कुछ विद्वान अयोध्या से करते हैं,[७] यद्यपि यह समीकरण सन्देह से परे नहीं है। साकेत के समृद्ध श्रेष्ठी कालपुत्र से अनाथपिण्डिक की पुत्री चूल सुभद्रा व्याही गयी थी। यद्यपि कालक निगंठ श्रावक था, पर सुभद्रा को उसने बौद्ध धर्म स्वीकार करने और बौद्ध भिक्षुओं को आमन्त्रित कर भोजन कराने की छूट दी। भोजनोत्तर धन्यवाद प्रकाशन के समय बुद्ध ने कालक को उपदेश दिया, जिससे प्रभावित कालक न केवल बौद्ध उपासक बना अपितु संघ की ससृद्धि में पर्याप्त योगदान भी किया। इसने भव्य कालकाराम विहार बनवा भिक्षु-संघ को दान दिया जहाँ बुद्ध ने विहार किया था।[८] यहाँ के अज्जवन में वास करते हुए बुद्ध के आदेश पर बाढ़ से भिक्षुओं की रक्षा हेतु गवाम्पति द्वारा ऋद्धि-प्रदर्शन का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[९] बुद्ध के उपदेश से प्रभावित होकर कुण्डलिया परिव्राजक ने त्रिरत्न में श्रद्धा व्यक्त की[१०] और सुजाता ने अर्हत्व प्राप्त किया।[११] सैतव्या का स्वामी पायासिराजज्ज, जो पहले लोक-परलोक में विश्वास नहीं करता था, कुमार कश्यप की वार्त्ता से प्रभावित हो बौद्ध उपासक बना।[१२] बुद्ध का उपदेश सुनकर 'एकधम्म सवणीय' भी यहीं सद्धर्म में प्रव्रजित हुआ था।[१३]

पांच सौ भिक्षुओं के साथ चारिका भ्रमण करते बुद्ध के सालविका पहुँचने पर प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त इस ग्राम का

---

१. अंगुत्तरनिकाय ५, ३, १०, ६, ४ १२ (नागितसुत्त), ८, ६ ६ (यससुत्त)।
२. संयुत्तनिकाय, ५४, ११, इच्छानांगलसुत्त।
३. दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त।
४. मज्झिमनिकाय, वासेट्ठसुत्त, सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त।
५. मज्झिमनिकाय, संगारवसुत्त।
६. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, एव महासुदस्सनसुत्त।
७. कनिंघम, एण्श्येण्ट ज्याग्रफी आफ इण्डिया, पृ० ४०३।
८. अंगुत्तरनिकाय ५, ३, ४ (कालकारामसुत्त) मलालशेखर डिक्शनरी जिल्द =, पृ० ५७५, जिल्द दो, पृ० १०८५ (साकेत)।
९. थेरगाथा, गाथा ३८, श्रीमती रीस डेविड्स, साम्स आफ अर्ली बुद्धिस्ट्स ब्रैदरेन, भाग २, पृ० ४२।
१०. संयुत्तनिकाय, ४६,६ (कुण्डलियसुत्त)।
११. थेरीगाथा, गाथा १४५ और आगे; रीस डेविड्स (भाग १) गाथा ५३, वही सिष्टर्स, पृ० ८४ और आगे।
१२. दीघनिकाय, (पायासिराजसुत्त)।
१३. रीसडेविड्स, साम्स आफ अर्ली बुद्धिष्ट्स (जिल्द २), गाथा ७६, पृ० ६७ और आगे।

स्वामी विद्वान ब्राह्मण लोहिच्च उनका उपदेश सुनकर उपासक बना। उसने बुद्ध को भिक्षुओं के साथ भोजन पर आमन्त्रित किया और उन्हें अपने शिष्य-शिष्याओं द्वारा श्रद्धा देने का भी आश्वासन दिया।[1]

बौद्ध साहित्य से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर वेलुवद्वार,[2] विन्देयम् शाला,[3] वेनागपुर[4] आदि ब्राह्मण ग्रामों के निवासियों ने बुद्ध के यश, प्रतिभा और वार्त्ता से प्रभावित हो समग्र रूप से बौद्ध-धर्म में श्रद्धा व्यक्त किया तथा उपासकत्व स्वीकार किया। यह ब्राह्मणों की बुद्ध के प्रति श्रद्धा का अप्रतिम उदाहरण है। केशपुत्र-कालामों के निगम में बुद्ध का जाना और कालाम को कालामोसुत्त[5] का उपदेश तथा उससे प्रभावित होकर केशपुत्र-कालामों का उपासक बनना भी उल्लेखनीय है। इस सुत्त में बुद्ध की अनुपम निष्पक्षता एवं गुणग्राहिता की भावना स्पष्ट है।

इस प्रकार कोशल प्रदेश का बौद्ध धर्म एवं संघ के सर्वतोमुखी विकास में कदाचित सर्वाधिक योग-दान प्रतीत होता है। इसमें एक सौ आठ भिक्षु, बीस भिक्षुणी, उन्तालीस उपासक एवं दस उपासिकाएँ थीं। रोचक तो यह है कि यहाँ के पुरुष भिक्षुओं एवं उपासकों में ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक है। भिक्षुणियों में अवश्य ब्राह्मण वर्ग वैश्यों के बाद द्वितीय स्थान पर, तथा उपासिकाओं में प्राशासनिक वर्ग के बाद द्वितीय स्थान पर है। वास्तव में यहाँ के ब्राह्मणों का न केवल कोशल के भिक्षुओं और उपासकों में अपितु सर्वत्र के भिक्षुओं एवं उपासकों में बहुमत था।[6] कोशल के सम्बन्ध में संघ की इस वृद्धि-समृद्धि की इस तथ्य से भी संगति है कि इस क्षेत्र में ही बुद्ध ने अपने जीवन की सर्वाधिक वर्षाएँ व्यतात कीं, और सर्वाधिक उपदेश दिये।

उपर्युक्त का तात्पर्य यह नहीं कि बुद्ध को कोशल देश में विघ्न-बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा। यहाँ श्रावस्ती पहले से ही आजीविकों का केन्द्र थी और अन्य श्रमण-परिव्राजकों की दृष्टि से भी ख्यात थी। अतः सहयोग के साथ ही यहाँ बुद्ध को प्रबल प्रतिद्वन्द्विता का भी सामना करना पड़ा। अनेक स्थलों पर बुद्ध द्वारा प्रातिहार्य प्रदर्शन से सफलता प्राप्त करने की यही पृष्ठभूमि है। सद्धर्म को यश-वृद्धि के साथ प्रतिद्वन्द्विता भी बढ़ा और विरोधी धर्मावलम्बियों का चिंचा द्वारा बुद्ध को भ्रष्ट ठहराने तथा सुन्दरिका की हत्या करा कर[7] बौद्धों पर इसका मिथ्या-रोपण उल्लेखनीय है। विनयपिटक के साक्ष्य से प्रायः सभी दण्ड-नियम नजीर के तौर पर ही गठित थे। इस दृष्टि से श्रावस्ती में बने अरिटढ (गंधादिपूब्ब) के बुरी धारणा न छोड़ने के कारण उत्क्षेपणीय कर्म तथा दूसरे अवसर पर परिवास-दण्ड पाये भिक्षुओं के कर्तव्य का उद्बोधन[8] और अन्य नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पर बौद्ध भिक्षुओं के आदर्श जीवन, बुद्ध की वाक्पटुता और शान्त प्रचार के कारण दुष्ट भिक्षुओं और प्रतिद्वन्द्वियों की एक न चली, अपितु वे स्वयं बौद्ध धर्म की ओर ही झुकने लगे। अनेक परिव्राजकों, आजीविकों एवं ब्राह्मणों का बौध धर्म मे प्रवेश इसका सुपुष्ट उदाहरण है।

---

[1] दीघनिकाय, लोहिच्चसुत्त।

[2] संयुत्तनिकाय, ५५,७ (वेलुवद्धारेय्यसुत्त)।

[3] मज्झिमनिकाय, नगरविन्देय्य सुत्त और सालेय्यकसुत्त।

[4] अंगुत्तरनिकाय, १,७,३ (वेनागपुरसुत्त)।

[5] अंगुत्तरनिकाय, ३,७,५ (केसमुत्तिसुत्त)।

[6] पुष्टि और विस्तार के लिए देखें, लेखक का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'बौद्ध संघ के प्रारम्भिक विकास का एक अध्ययन'।

[7] उद्धरण के लिये देखें थामस, दी लाइफ आफ बुद्ध ऐज लीजेण्ड एण्ड हिस्ट्री (१९५४) पृ० १११-१२, तुलनीय, राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या (१९५२), पृ० ३१६-१७, उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारत का भूगोल, पृ० १०४-१०५।

[8] विनय, चुल्लवग्ग १,३२ और आगे २,१ और आगे।

शुंगों का मूल स्थान

वेदप्रकाश मिश्र*

सेनापति पुष्यमित्र के जीवन चरित्र और उपलब्धियों के सम्बन्ध में अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त होते हैं किन्तु उसके मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता। न तो पुराणों में इसकी चर्चा है और न ही बाण के हर्षचरित एवं कालीदास के मालविकाग्निमित्रम् में ही किसी प्रकार का उल्लेख है। तथापि इस विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रतिपादित किये हैं।

कुछ विद्वान यह मानते हैं पुष्यमित्र विदिशा का निवासी था[1]। टार्न[2] ने पुष्यमित्र को विदिशा का वंशानुगत राजा कहा है। टार्न के इस मत का आधार मालविकाग्निमित्रम्[3] का वह प्रकरण है जहाँ सेनापति पुष्यमित्र अपने पुत्र अग्निमित्र को एक पत्र लिखकर अश्वमेध यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करता है। मालविकाग्निमित्रम् के उस उद्धरण के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पुष्यमित्र ने वह पत्र कहाँ से लिखा था। यह निश्चित है कि उसने यह पत्र वहीं से लिखा होगा जहाँ वह अश्वमेध यज्ञ करने जा रहा है। इस दृष्टि से पाटलिपुत्र ही, जो उसकी राजधानी थी, महत्त्वपूर्ण थी। कालिदास के उपरोक्त वर्णन के आधार पर दृढ़तापूर्वक यह कहना कि वह विदिशा का परम्परागत शासक था नितान्त धृष्टता होगी। अन्य साक्ष्यों से प्रमाणित हो चुका है कि पुष्यमित्र साम्राज्य अधिग्रहण के बाद भी अपने को सेनापति ही कहलाता था। संभवतः वह इसमें कोई राजनीतिक स्वार्थ देखता था। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि दिव्यावदान[4] में पुष्यमित्र को मौर्यवंश का अन्तिम सम्राट तथा अशोक के पश्चात् का राजा कहा गया है। इस विवरण से कम से कम इतना तो निश्चित ही है कि यह संकेत उसी पुष्यमित्र की तरफ है जिसने मौर्य सम्राट वृहद्रथ की हत्या करके साम्राज्य हस्तगत कर लिया था। इससे स्पष्ट है कि पुष्यमित्र की शक्ति का केन्द्र पाटलीपुत्र था, विदिशा नहीं जहाँ से उसने बौद्ध धर्म विरोधी अभियान प्रारम्भ किया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुष्यमित्र का मूल निवास स्थान विदिशा नहीं अपितु कहीं अन्यत्र था। पंडित भगवतदत्त[5] का विचार है शुंग पूर्वी भारत का कोई जनपद था। इस सम्बन्ध में उन्होंने मत्स्य पुराण का उल्लेख किया है जहाँ शुंग शब्द जनपदों के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ है।[6] किन्तु मत्स्य पुराण के एक पाठ के आधार पर ही किसी निश्चित निष्कर्ष की कल्पना उचित नहीं है।

डा० विनोद चन्द्र सिनहा[7] का विचार है कि शुंगों का मूल निवास स्थान विदिशा था। उनके मतानुसार प्रथम शताब्दी ई० पू० का धनभूति का भरहुत अभिलेख पूर्वी मालवा में शुंगों के अस्तित्व का संकेत है। इसके साथ

---

* प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. कनिंघम, न्युमिसमेटिक्स क्रोनिकल्स, १८७०, पृ० २२६; रैप्सन, सी० एच० आई०, पृ० ५२२–२३; चन्दा, आर० पी०, आई० एच० क्यू०, ५, पृ० ३९६।

२. ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एंड इंडिया, पृ० १७६।

३. "स्वस्ति। यज्ञ–शखात् सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्यं पुत्रमायुस्तन्तम् अग्निमित्रम् स्नेहात् परिषवजय अनुदार शयति।" मालविकाग्निमित्र, अंक ५, पृ० १५ शंकरपाण्डुरंग संस्करण, बम्बई, १८६९, पृ० १५३।

४. दिव्यावदान, पृ० ४३३–३४; आई० एच० क्यू०, ५. पृ० ३९७।

५. भारतवर्ष का वृहत् इतिहास, २, पृ० २७७।

६. मागधाश्च महाग्रामा मुण्डा शुंगास्तथवच। सुह्मामल्ला विदेहाश्च मालवाः काशीकोशलाः। १६३-६६-७११

७. हिस्ट्री आफ शुंग डायनेस्टी, पृ० ६८–६९।

ही साथ यह भी मत है कि वासुदेव कृष्ण के सम्मान में हैलियोडोरस द्वारा विदिशा में गरुड़ स्तम्भ का स्थापित होना विदिशा के उसकी जन्मभूमि होने का प्रमाण है। चूँकि यह स्तम्भ अभिलेख ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति के सम्मान में स्थापित हुआ था अतः शुंगों के लिए यह स्वाभाविक था कि उसकी स्थापना अपनी जन्मभूमि में ही कराते। इसी सन्दर्भ में डा० सिनहा ने बी० सी० लाहा के उस मत को उद्धृत किया है कि शुंग मूल रूप से मौर्यों के सामन्त के रूप में विदिशा में शासन करते थे। डा०सिनहा ने एक अन्य साक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि पुष्यमित्र के जीवन काल में राजकुमार अग्निमित्र विदिशा में राज्यपाल के रूप में शासन करता था किन्तु अपने पिता की मृत्यु के पश्चात जब वह साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ तो भी वह विदिशा को छोड़कर पाटलिपुत्र वापस नहीं गया। यह तथ्य विदिशा के उसकी पैतृक भूमि होने का संकेत है। इसी सन्दर्भ में डा० के० डी० वाजपेयी के मत का उल्लेख करते हुए उनका कथन है कि शुंग साम्राज्य की स्थापना करने वाले राजा की मगध में किसी मुद्रा का न प्राप्त होना तथा विदिशा तथा एरण से कुछ आहत प्रकार की मुद्राओं का प्राप्त होना बाद के शुंग तथा कण्व राजाओं का वहाँ से सम्बन्धित होने का प्रमाण है।

उपरोक्त सभी साक्ष्यों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शुंगों के पैतृक भूमि के सन्दर्भ में दिये गये सारे तर्क कल्पना प्रसूत हैं, उसकी प्रमाणिकता के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। जहाँ तक मालविकाग्निमित्र का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। 'मालविकाग्निमित्र' लगभग चौथी शती ई० में कालिदास द्वारा रचित एक नाटक है। उसमें नाटककार ने मालविका तथा अग्निमित्र के प्रेम प्रसंगों को ही अपना नाट्यवस्तु बनाया है। कालिदास कोई इतिहासकार नहीं, अपितु उच्चकोटि के साहित्यकार थे। अपने विषयवस्तु को अत्यधिक सजीव रूप में प्रस्तुत करने के लिए विदिशा को रंगभूमि बनाना आवश्यक था क्योंकि अग्निमित्र वहीं शासन कर रहा था। इसके अतिरिक्त पुष्यमित्र की मृत्यु के पश्चात् अग्निमित्र पाटलिपुत्र नहीं गया इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। बेसनगर गरुड़ स्तम्भ लेख में उल्लिखित कौत्सीपुत्र भागभद्र शुंग वंश का है इसका भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।[1] पुराणों में प्राप्त नामों की समानता के आधार पर ही यह मत व्यक्त किया जाता है। इस सबन्ध में भी इतिहासकारों के तर्कों में समरूपता देखने को नहीं मिलती। एक ओर तो वे मित्रनामान्त होने के कारण सिक्कों पर प्राप्त अनेक राजाओं को शुंग वंशीय मान लेते हैं तथा दूसरी ओर पुराणों में उल्लिखित नामों का आधा या चौथाई अंश भी यदि सिक्कों या अभिलेखों में मिलेगा तो उसे भी पुष्ट प्रमाण मान लेते हैं तथा जहाँ तक विदिशा एवं एरण से प्राप्त सिक्कों का प्रश्न है उनका अभी तक सम्यक रूप से अध्ययन नहीं किया गया है। सभी सिक्कों को देखा जाय तो पुराणों में उल्लिखित संख्या से बहुत अधिक नाम सामने आते हैं और इन सबको शुंगों से सम्बन्धित करना संभव नहीं है। यह प्रश्न विवादास्पद है।[2]

इस प्रकार शुंगों को विदिशा से सम्बद्ध करना तर्क संगत नहीं है। पाटलिपुत्र के राजाओं की यह परम्परा रही है कि राजघराने का कोई कुमार ही विदिशा जैसे महत्वपूर्ण प्रान्त का शासक बनाया जाता था। अशोक स्वयं कुछ दिनों तक विदिशा का शासक रहा है। अतः पुष्यमित्र द्वारा अपने पुत्र को विदिशा का शासक (राज्यपाल) नियुक्त करना असंगत नहीं कहा जा सकता। जहाँ

---

[1] मार्शल, ए गाइड टु सांची, पृ० ११ : का मत है कि गरुड़ स्तम्भाभिलेख का भागभद्र तथाकथित शुंगों का पाँचवा
राजा है। जायसवाल ने इस भागभद्र की पहचान पुराणों के भागवत से की है। रेप्सन ने भी इस भागभद्र की
पहचान पुराणों में आये नवें शुंग राजा भागवत से की है, सी० एच० आई०, पृ० ४७०। डा० बी० सी०
सिनहा ने स्वयं यह माना है कि भागभद्र विदिशा का स्थानीय शासक था।
I have already discussed it before that Bhagabhadra was a local ruler of Vidisa, he upheld
the banner of the Sungas at Vidisa when the Andhras had usurped the power at Magadha.
Hence this Bhagabhadra need not be identified either with the so-called fifth Sunga ruler
or with the ninth Sunga ruler Bhagawat.

[2] *Histary of Sunga Dynasty*, p. 37.

तक अग्निमित्र को कालिदास के नाटक में राजा शब्द से सम्बोधित करने का प्रश्न है इसमें कोई विचित्रता नहीं है। अनेक सामन्तों द्वारा भी राजा सम्बोधन धारण करने का प्रमाण अभिलेखों में मिलता है।

क्या शुंगो का मूल निवास स्थान अयोध्या था ?

शुंगों के पैतृक भूमि के विषय पर यदि एक अन्य दृष्टि से विचार किया जाय तो एक दूसरा ही परिणाम प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में अयोध्या से धनदेव के अभिलेख तथा सिक्कों के गंभीरतापूर्वक विश्लेषण की आवश्यकता है। इन साक्ष्यों के विश्लेषण से ऐसा लगता है कि शुंगों का मूल निवास स्थान संभवत: अयोध्या ही रहा होगा। अयोध्या से प्राप्त धनदेव के उक्त अभिलेख में कुछ महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। प्रथम तो वह सेनापति पुष्यमित्र का उल्लेख करता है तथा उसे "द्विरश्वमेधयाजिन:"[1] तथा "सेनापते:" नामक दो सम्मान सूचक उपाधियों का प्रयोग करके धनदेव पुष्यमित्र के प्रति गहरा सम्मान व्यक्त करता है। अगर पुष्यमित्र उसका पूर्वज न होता तो धनदेव इस प्रकार की सम्मान सूचक उपाधियों का प्रयोग न करता। उसके अतिरिक्त उक्त अभिलेखों से धनदेव स्वयं को कोशलाधिप कहता है तथा यह बताना चाहता है कि पुष्यमित्र भी कोशल का राजा था। इस प्रकार स्वयं को पुष्यमित्र की वंश परम्परा में छठा राजा बताता है। यदि अयोध्या शुंगो का मूल निवास स्थान न होता तो वह स्वयं को कोशलाधिप न कहता।

यह अभिलेख धनदेव अपने दिवंगत पिता फल्गुदेव के सम्मान में उसकी स्मृति को स्थायी रखने के लिए स्मारक के रूप में "केतनं कारित" प्रतिष्ठित करता है। यदि अयोध्या धनदेव के पूर्वजों की जन्मभूमि न होती तो यह स्मारक अभिलेख वहाँ पर क्यों स्थापित करता। धनदेव यह चाहता था कि उसको आने वाली पीढ़ी अपने पूर्वजों के पराक्रम और यश से परिचित हो। अत: उसके लिए उसकी पैतृक भूमि ही सबसे अधिक उपयुक्त थी। इसके अतिरिक्त अयोध्या से प्राप्त अनेक सिक्कों का भी यदि विधि सम्मत अध्ययन किया जाय तो वे किसी न किसी प्रकार शुंग वंश से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। सरकार[2] ने साकेत को शुंगों का प्रधान प्रान्तीय केन्द्र माना है। डा० निसार अहमद ने सिक्कों के आधार पर यह कल्पना की है कि कोशल के राजा शुंगों की अत्यन्त निकट की शाखा थे।[3] चट्टोपाध्याय[4] की धारणा है कि अयोध्या अभिलेख में धनदेव स्वयं को पुष्यमित्र की छठीं पीढ़ी में बताता है तथा स्वयं को कोशलाधिप कहता है। इसके अतिरिक्त अयोध्या से अनेक राजाओं के सिक्कों का प्राप्त होना अयोध्या के स्वतन्त्र राज्य और स्पष्टत: एक स्वतन्त्र राजवंश की ओर संकेत करता है। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अयोध्या मूलतः पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य का एक प्रान्त था किन्तु बाद में स्वतन्त्र हो गया।" किन्तु वास्तविकता कुछ दूसरी ही लगती है। पुष्यमित्र के सम्राट बनने के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र एवं उसकी सन्तति मूलशाखा का निर्माण करती है तथा वे लोग ही पुराणों की सूची में आये हैं। इससे दो सम्भावनायें उठती हैं। एक तो यह कि फल्गुदेव एवं धनदेव, अग्निमित्र व वसुमित्र के बाद मूलशाखा के उत्तराधिकारी के रूप में शासन कर रहे थे तथा दूसरी सम्भावना यह है कि मूलवंश साम्राज्य का शासन करता रहा तथा सहायक शाखा, पुष्यमित्र के द्वितीय पुत्र (?) और उसके उत्तराधिकारी, अयोध्या के मूलस्थान पर शासन करते रहे। पहले मूलशाखा के अधीन और बाद में स्वतन्त्र रूप से। इसी कारण धनदेव अपने को पुष्यमित्र की छठी पीढ़ी का बताता है।

जहाँ तक अयोध्या का प्रश्न है वह एक महत्त्वपूर्ण स्थान था इसीलिए पतन्जलि एवं गार्गी संहिता आदि

---

१. "कोशलाधिपेन द्विरश्वमेध याजिन: सेनापते: पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कोशिकी पुत्रेण धन (देवेन)॥ धर्मराज्ञया पितु: फल्गुदेवस्य केतनं कारिता।" नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग, अनुभाग ५ पृ० ९९, डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ९५," ए० ई०, २०, पृ० ५७।

२. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० ६९

३. डी० डी० कौसाम्बी कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १०७

४. अर्ली हिस्ट्री आव नार्दर्न इण्डिया, पृ० २८।

में साकेत का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं गार्गी संहिता के युगपुराण में यवन आक्रमण की चर्चा करते समय साकेत, मथुरा, पांचाल तथा कुसुमध्वज इन चार नगरों का ही उल्लेख है। स्पष्ट है कि साकेत उस समय किन्हीं कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यहाँ हमारा मत है कि तत्कालीन परिस्थितियों में विदिशा की अपेक्षा साकेत की महत्ता[1] अधिक थी क्योंकि विदिशा में पुष्यमित्र अपने शासनकाल में राज्यपाल नियुक्त करता है। परन्तु साकेत को इसके पूर्व ही वह स्थान प्राप्त हो चुका था जिसका संकेत यवन आक्रमण से होता है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि[2] ने भी साकेत को यवनों द्वारा घेरे जाने का उल्लेख किया है जो उसकी तत्कालीन परिस्थितियों में महत्ता की द्योतक है।

उपर्युक्त सभी साक्ष्यों के निरीक्षण से यह कहा जा सकता है कि शुङ्ग मूलतः अयोध्या के ही निवासी थे। यद्यपि पुष्यमित्र के पूर्व नन्दों और मौर्यों के काल में अयोध्या की स्थिति का कुछ पता नहीं चलता है तथापि इतना निश्चित है कि अयोध्या चूँकि अत्यन्त प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण थी अतः उस समय भी वहाँ कोई सामन्त के रूप में शासन करता रहा होगा। प्राचीन काल से ही अयोध्या ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति का केन्द्र थी। पुष्यमित्र भी ब्राह्मण धर्म का पोषक था अतः सम्भव है कि पुष्यमित्र के पूर्वज अयोध्या में नन्दों तथा मौर्यों के सामन्त रहे हों और वह भी उसी परम्परा में कोशल के सामन्त शासक के साथ ही मौर्य साम्राज्य का सेनापति भी रहा होगा। ऐसा कदापि सम्भव नहीं है कि मौर्यों के काल में वे शक्तियाँ जो उनके पूर्व अस्तित्व में थीं इस समय समाप्त हो गयी थी। किसी न किसी रूप में उनका अस्तित्व बना ही रहता है भले ही वे सम्राट के अधीन रहें।

---

[1] **जे०बी०ओ०आर०एस०, १४, पृ० ४००,**
जे०यू०पी०एच०एस०, २०, पृ० २२।

[2] **महाभाष्य, भाग २, पृ० ११९; पाणिनि ३|२|३ ११।**

इतिहास के आइने में फैजाबाद का उपेक्षित विड़हर क्षेत्र

राम ऋषि त्रिपाठी*

उपेक्षा उस ऐतिहासिक परम्परा की देन है जिसने इतिहास लिखने में कुछ गण्यमान व्यक्तियों के क्रिया-कलापों एवं घटनाओं के अंकन तक ही अपने को सीमित कर लिया था। अब अतीत ने वर्तमान को उत्प्रेरित कर दिया है कि वह अपने तथा भावी के लिए देश का सच्चा इतिहास लिखे। जन वर्ग को सशक्त रूप से प्रभावित करने वाली ओझल और उपेक्षित शक्तियों की खोज करें। धर्म, इतिहास एवं साहित्य के अन्यान्य क्षेत्रों में बिखरे ग्रन्थों का अनुशीलन कर उनमें निहित उन कथ्यों में जो कि अलंकार रूपक तथा प्रतीकों में विद्यमान हैं सच्चे तथ्य क्या हैं इसका पता लगाये। उत्खनन एवं जन श्रुतियों आदि में क्या मिलता है? वे इतिहास-संकलन के कितने और किस सीमा तक स्रोत बन सकते हैं? इसे प्रामाणिकता के साथ विवेक सम्मत प्राक्षालन से विश्वसनीय बनाया जाय।

यों तो उपर्युक्त कसौटी पर खरा उतर कर कहीं का भी इतिहास खरा अर्थात स्पष्ट रूप ग्रहण करता हो है पर जहाँ तक विड़हर क्षेत्र के इतिहास का सम्बन्ध है अपने गन्तव्य के लिए अपेक्षाकृत ऐसा अधिक सशक्त आधार रखता है जिसमें भटकाव की गुंजाइश कम है।

आज भी विड़हर से सुपरिचित जन सामान्य का आम कथन सुनने में आता है कि 'अरे यह विड़हर' है। समुचित समय का यह कथन इस क्षेत्र की ऊर्जा सम्पन्न सामाजिकता का द्योतन करता है। उसका यह अर्जन एवं उर्जन उसके इतिहास से शरीर और प्राण की भाँति सम्बद्ध है।

यदि भूगोल इतिहास के लिए आधार शिला है तो सौभाग्य से उसे अपने गुरुत्व के निमित्त एक ऐसी शिला मिली है जिसमें से नये-नये निर्झर फूटते गये और उन्होंने इतिहास को सरिता को ऐसे-ऐसे जीवन्त प्रवाह प्रदान किये जिन्होंने इतिहास को निखारने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी।

प्राचीन काल में नदियाँ ही राज्यों की विभाजन-रेखाएँ हुआ करती थीं। तब उपर्युक्त विड़हर क्षेत्र वर्तमान की भाँति सीमित नहीं अपितु आज के जनपद आजमगढ़ के एक विस्तृत भू-भाग तक फैला था। वस्तुतः तमसा और घाघरा के बीच का सपाट मैदान इसके क्षेत्र में था। भूमि उर्वर थी। वर्षा अधिक होती थी, वृक्षों की बहुतायत ने लघु वनस्थली का सा एक रूप खड़ा कर दिया था। घाघरा-तट पर स्थित वर्तमान चहोड़ा, विड़हर, रामबाग तथा चाड़ीपुर में ऋषियों के आश्रम थे। इसी भाँति तमसा के किनारे दुर्वासा एवं अगस्त्य ऋषि के आश्रम दुर्वासा तथा निजामवाद नामक स्थानों पर थे। इन्होंने जन-जीवन को वैदिक जीवन का एक सांचा दिया। परिणामतः उसमें बदलाव हुआ। अपने प्रभाव-क्षेत्र में राम के रामत्व ने जो पाया, दिया। संसार घटनाओं का प्रवाह है ऐसी भी एक मान्यता है। शब्दावली में चाहे जितना भी अन्तर हो पर घटना और परिस्थिति की एकता में कदाचित उतना अन्तर नहीं है। परिस्थितियों के मोड़ ने सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में एक ऐसा गुल खिलाया जिसमें अपने स्वत्वों की रक्षा की गन्ध थी। बलात आधिपत्य स्थापित करने वाली बाधक शक्तियों के विरुद्ध साहसिक युद्ध का सौरभ था। बात यह थी कि तब तक उत्तरी भारत में आर्यों के १६ जनपदों की स्थापनाएँ हो चुकी थीं। उनमें कोशल, काशी और मगध के जनपदों से इस क्षेत्र को दो-चार होना पड़ा था। तमसा पार काशी का सैनिक सन्निवेश स्थापित हो चुका था। वह कोशल राज्य का शत्रु बन बैठा था। चूँकि उसका फौजी अड्डा विड़हर की सीमा के अति निकट था अतः कोशल को भी यहीं अपना शिविर स्थापित करना पड़ा। इन स्थापनाओं ने वह रंग लाया कि लगभग २०० वर्षों तक इस क्षेत्र को युद्धरत रहना पड़ा था। अन्ततः कोशल-नरेश कंस ने काशी पर विजय प्राप्त कर उसे अपने राज्य में मिला लिया और युद्ध का अन्त हो

---

* ग्राम शाहपुर, पो० सारैन, जिला आजमगढ़।

गया। परिस्थितियाँ किसी अतीत परिस्थिति का परिणाम तथा भावी परिस्थिति की जन्मदायिनी होती हैं। अस्तु वैसा ही हुआ भी। ५४३ ईसा पूर्व में बिम्बसार ने मगध के राज्य सिंहासन को सुशोभित किया तो कोसल नरेश प्रसेनजित की बहन कोशलादेवी उससे ब्याही गई। इस प्रकार काशीराज्य को सम्पूर्ण वार्षिक आय उसके दहेज के भाग में आई। आगे चलकर जब इसमें बाधा पड़ी तो इस बिड़हर क्षेत्र को मगध से भी लड़ना पड़ा था। परिणामतः ३२५ वर्षों तक इसे मगध के अधीन रहना पड़ा था। विगत शताब्दी में कनिंगहम तथा उसके सहायक कालाईल नामक अंग्रेजों को इस क्षेत्र के इतिहास पर पुरातत्व अन्वेषक का सा दायित्व निभाना पड़ा था। उनको इस क्षेत्र के तत्कालीन गाँव देवरापही में, जो इन दिनों जनपद आजमगढ़ के परगना अतरौलिया में स्थित है, मौर्य कालीन सिक्के मिले थे जो इन दिनों लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित बनाये जाते हैं। ऐसा ही लेख कनिगहम तथा बुकानन की उस रिपोर्ट में भी है जो उनके द्वारा तैयार की गई तथा राजकीय संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित है। उसी आधार पर कुछ किताबें आजमगढ़ के इतिहास के नाम से लिखी गई हैं जिनमें भी ये अंकन हैं।

परिस्थितियों के मोड़ ने जब इस क्षेत्र को गुप्त साम्राज्य के अधीन कर दिया तो उसमें इसे सन् ४५० ई० तक रहना पड़ा था। कहा जाता है कि जब इस वंश का प्रतापी राजा स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा तो उसे हूणों की बर्बरता का सामना करना पड़ा था। उनके नेता तोरमाण और मिहिरकुल के बर्बर आक्रमणों का भुगतान भी इस क्षेत्र को करना पड़ा था।

ऐतिहासिक क्रम में जब हर्ष का समय आया तो उस समय का एक ताम्रपत्र आजमगढ़ जनपद के मधुवन क्षेत्र में एक किसान को हल जोतते समय मिला जिसके सम्बन्ध में आजमगढ़ के इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि २० इंच लम्बा तथा १२ इंच चौड़ा है। उसमें शुद्ध संस्कृत भाषा में १८ पन्क्तियों का एक श्लोक है जिससे इस क्षेत्र के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वह पत्र उस पुस्तक के अनुसार आजमगढ़ की मेहता लाइब्रेरी मे रखा हुआ है। हर्ष के ही समय में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत की यात्रा पर आया था। उसके लेखों से भी कुछ प्रकाश इस क्षेत्र के इतिहास पर पड़ता है ऐसा कथित इतिहास ग्रन्थ में लिखा हुआ है। यह भी कहा गया है कि बाणभट्ट ने हर्षचरित, चण्डीशतक तथा कादम्बरी के पूर्वाध की रचनाएँ इसी क्षेत्र में की थीं।

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासनों के अधीन रहते हुए भी कुछ स्थानीय शासक इस क्षेत्र में राज्य कर रहे थे। उनकी अपनी सीमाएँ थीं। बिड़हर क्षेत्र में ऐसे शासक वंश मात्र दो थे। प्रथम थे राजभर जिन्होंने ४६९ ई० से ६८९ ई० तक अपनी सीमा में अपना शासन चलाया था। तत्कालीन बिड़हर क्षेत्र तथा वर्तमान आजमगढ़ के क्षेत्र में पड़ने वाले गाँव अरांव गुलजार तथा अहिरौला के सन्निकट विष्णुपुर गढ़वा में इनके शासन-क्रेन्द्र थे। उसी वंश के राजा के बड़े लड़के अहिरौला ने लगभग ५०३ ई० में अहिरौला बाजार एवं छोटे लड़के कौड़राम ने ५०४ ई० में कौड़िया बाजार को बसाया था। वर्तमान बिड़हर क्षेत्र में ग्राम गोपालपुर, परसनपुर, कुरांव तथा गोवर्धनपुर में भी इनके शासन केन्द्र थे। इन स्थानों पर अभी भी उनकी कोट के भग्नावशेष स्पष्ट टीलों के रूपों में विद्यमान हैं। वहाँ उत्खनन की आवश्यकता तो है ही एवं जनश्रुतियों और किम्वदन्तियों का साधन भी छोड़ने लायक नहीं नहीं है। इन राजभर राजाओं को पराजित कर साड़ी पाली से आये हुए चन्द्रवंशी राजपूतों ने अपना आधिपत्य जमाया। उन्हीं के वंशज पालिवाल या पलिवार वंश के नाम से जाने जाते।

जहाँ तक मुसलिम शासन-काल का सम्बन्ध है उससे विदित है कि नवाबों की नजर फैजाबाद की ओर उठी तो उन्होंने गुलाब बाड़ी एव मकबरा जैसी आलीशान इमारतों का निर्माण कर इस शहर को अपना निवास स्थान भी बनाया था। उस समय बिड़हर-क्षेत्र की उन्नति कम नहीं हुई थी।

कहते हैं कि इस क्षेत्र का कस्बे जैसा प्रसिद्ध गाँव जहाँगीरगंज जहाँगीर बादशाह द्वारा बसाया गया था। बाजार बसखारी के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि किसी नवाब द्वारा ही बसाया गया है। इस पर कुछ विवाद है क्योंकि उसे मखदूम साहब द्वारा बसाया गया तो नहीं पर नामकरण किया गया माना जाता है। इस परगने का नाम, जिसे इस समय भी कायम रखा गया, जाहिर है कि उस समय बाजार बिड़हर का स्थान पूरे क्षेत्र में सर्वोच्च था। इस समय तो वहाँ का हाल खस्ता है किन्तु बड़ी सजीव एवं स्पष्ट जनश्रुति है कि यह स्थान घाघरा के

उस पार और इस पार के व्यापार सचालन का प्रमुख केन्द्र रहा है यहाँ व्यापारी नावों का मेला सा लगा रहता था। गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोण्डा तथा बहराइच के भू-भाग, फैजाबाद, आजमगढ़, सुल्तानपुर और प्रतापगढ़ के भू-क्षेत्रों से जुड़े हुए थे। नदी के दोनों पार उपयुक्त जनपदों के व्यापारियों का सम्मिलन सा होता रहवा था। सन् १८५७ ई० के बाद अग्रेजों ने इसकी आलीशान इमारतों को विनष्ट कर दिया।

जहाँ तक सन् १८५७ ई० का सम्बन्ध है यह क्षेत्र किसी से पीछे नहीं रहा। परगना अतरौलिया इस परगने से न केवल सन्निकट या सीमावर्ती रूप से जुड़ा है अपितु दोनों के केन्द्र स्थानों में भी बहुत कम फासिला है : वहाँ के निकट बौंडरा के राजा बेनी माधव सिंह (कूर्म क्षत्रिय) तिघरा के तालुकेदार तथा बिड़हर, टसवर, मकरही, देवरिया और राजेसुल्तानपुर के तालुकेदारों ने कुँवर सिंह के नेतृत्व में जो काम किया वह यावत चन्द्र सूर्य अमर रहेगा। अतरौलिया में अंग्रेज वाहिनी से मुकाबिला करने के निमित्त सशक्त दुर्ग बनाया गया था जहाँ अंग्रेजों को लोहे के चने चबाने पड़ गये थे। उस क्रान्ति में सम्पूर्ण बिड़हर क्षेत्र का योगदान अद्वितीय रहा है। सन् १९४२ ई० का समय आया तो बाजार राजेसुल्तानपुर में एक दारोगा तथा एक कान्सटेबिल की हत्या कर उत्तेजित भीड़ ने अपनी अपूर्व उत्तेजना और बलिदानी भावना का परिचय दिया। लाशें ऊंट पर लाद कर क्षेत्र में घुमाई गईं तदन्तर दरिया में गायब कर दी गई थीं। दमन का चक्र अपनी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँचा। लोगों के घर जला दिये गये एवं लगभग सर्वस्व का अपहरण कर लिया गया। एकता की हद है कि अंग्रेजी सरकार को हर्जाना भी देना पड़ा तथा किसी को कोई वैसी सजा नहीं मिली।

उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित इतिहास की सम्पुष्टि के लिए ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, अमरसिंह, वराहमिहिर तथा बाणभट्ट के ग्रन्थों का अवलोकन किया जा सकता है। कथासरितसागर तथा राजतरंगिणि, दसकुमार चरित आदि ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाना चाहिए। इनके अतिरिक्त उल्लिखित टीलों का सम्यक अन्वेषणात्मक अध्ययन आपेक्षित है। जहाँ तक कनिंगहम और बुकानन की खोजों का सम्बन्ध है उनको देखना चाहिए। जनश्रुतियों, लोक गीतों, कथनों आदि को माध्यम बनाया जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सारी गवेषणा नये सिरे से होनी चाहिए। इतिहास हर जगह सुरक्षित है। पूर्वाग्रह विमुक्त विवेक की आवश्यकता है तभी देश का अथवा उसके किसी भी भाग का सच्चा इतिहास उपलब्ध हो सकता है।

●

अवध के इतिहास का एक लुप्त अध्याय

बहराइच में विदेशी आक्रमणकारी का सर्वनाश

विनोद कुमार मिश्र,*

महमूद गजनी ने ७ जनवरी १०२६ ई० को भारत के विख्यात शिव मंदिर सोमनाथ को केवल तीस हजार घुड़सवारों के सैन्य बल से लूट लिया था। भारतीय इतिहास में इस घटना को लेकर हिन्दुओं के मूर्तिपूजक अंधविश्वास को भारत के पतन का एक प्रमुख कारण बताया जाता रहा है। आज तक हिन्दू इसके लिए आलोचना के पात्र रहे हैं, लेकिन कोई इतिहासकार इस प्रश्न पर विचार करने के लिए तैयार नहीं होता कि जब हिन्दू इतने मूर्ख, अन्धविश्वासी और असंगठित थे तो फिर करीब दो सौ सालों तक मुसलमानों का भारत पर एक भी आक्रमण क्यों नहीं हुआ। भारत का इतिहास महमूद गजनी (१०२६ ई० सन्) के हमले से मुहम्मद गौरी (११९२ ई०) के हमले तक सीधे छलांग लगा जाता है। यह हमारी विडम्बना रही है कि भारतवर्ष का इतिहास उन्हीं घटनाओं से प्रारम्भ किया जाता है, जिनमें हिन्दुओं की पराजय की अतिरंजित गाथाएँ अंकित हैं।

वस्तु स्थिति यह है कि महमूद गजनी की लूटपाट से उत्साहित होकर लाखों मुसलमानों ने गाजी मियाँ मसूद की रहनुमाई में भारत पर हमला किया था। लाख फौज के साथ वह खुद आया था और उसके पीछे उसका पिता सालार साहू (ईरान का सुलतान) भी लाखों की फौज लेकर आया। इतनी बड़ी सेना ने भारत पर कभी भी हमला नहीं किया था। इस्लाम के नाम पर यह अन्धड़ अयोध्या तक जा पहुँचा, जिसका बहराईच में हिन्दू राजाओं ने योजनापूर्वक घेरकर सर्वनाश कर दिया। एक आदमी भी खबर देने के लिए नहीं बचा, अरब-ईरान के हर घर का चिराग बुझ गया। यही कारण था कि भारत पर हमला करने का मानस बनाने में मुसलमानों की पांच पीढ़ियाँ लग गई। प्रमाण मौजूद हैं।

यह हमला सोमनाथ की लूट के ६ साल बाद हुआ था। तारीखें, पात्र, पात्रों की कब्रें ही मौजूद नहीं हैं बल्कि अवध का हर मुसलमान गाजी मियाँ मसूद की बडे वीर के रूप में पूजा करता है, और शहादत के दिन बहराईच में उनकी मजार पर बहुत बड़ा मेला लगता है। उससे थोड़ी दूरी पर मसूद को मौत के घाट उतारने वाले राय सुहेलदेव का भी मेला शान से लगता है। आश्चर्य है कि आज से केवल ९४९ वर्ष पूर्व हुए इस "न भूतो न भविष्यति" महासमर की जानकारी भारतीय इतिहास को नहीं है। दो सौ साल बाद प्रसिद्ध सूफी सन्त मुयूनुद्दीन चिश्ती खुदा के इल्हामी आदेश से अजमेर आये और राय पिथौरा के अध्यात्मिक गुरु अजीतपाल जोगी के विशेष स्नेह पात्र बन गये। उन्हीं चिश्ती साहब की बदौलत शहाबुद्दीन गोरी राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) को हराने में सफल हुआ। उसके बाद हर मुस्लिम हमलावर अजमेर में चिश्ती साहब की मजार पर मत्था टेकता आया है।

इतिहास स्रोत

हिन्दुओं के इस शौर्य, संगठन कौशल और सम्पूर्ण विजय के स्वर्णिम इतिहास का पता जिस ग्रन्थ से मिलता है उसके लेखक एक मुसलमान विद्वान हैं, जिनका नाम है शेख अब्दुर्रहमान चिश्ती। उन्होंने बड़े शोध के बाद मसूद की शहादत का इतिहास लिखा था। उनके इस इतिहास ग्रन्थ का नाम है–मिर–अत–इ–मसूदी। उन्होंने अपने इस इतिहास के आधार ग्रंथ में महमूद गजनवी की तवारिख-ए-महमूद, रौजाबू-स्सफा तवारीख-ए-फिरोजशाही, मुन्तखाबू-त-तवारीख आदि इतिहास ग्रंथों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इस लेखक ने अपने इस इतिहास

---

* १६१-ए० रसूलाबाद, पो० केवेलरी लाइन्स, इलाहाबाद-२११००४

के तथ्यों की पुष्टि में एक ब्राह्मण विद्वान आचार्य माली बहादुर का भी उल्लेख किया है। लेखक का कहना है "बादशाह नुरुद्दीन महम्मद जहांगीर के आदेश से वह हिमालय के तराई के क्षेत्रों में गया था, जहां पर्वतीय राजाओं के प्रतिनिधि के रूप में आचार्य माली बहादुर से उसकी भेंट हुई। वह ब्राह्मण हिन्दुओं द्वारा लिखे इतिहास से भलीभांति परिचित था। उसने मसूद के हिन्दुस्थान अभियान के बारे में हिन्दू इतिहासों की सम्पूर्ण जानकारी दी। इस आचार्य ने यह भी बताया कि अभी भी मसूद को मौत के घाट उतारने वाले राय सुहेल देव श्रावस्ती के वंशज पर्वतीय प्रदेशों के राजा हैं और उनके पुस्तकालय में रखे हिन्दू इतिहासों में उसने ये सारे विवरण पढ़े हैं।"

मसूद के हमले का यात्रा-पथ :

मसूद गजनी के सुलतान महमूद की बहन मौला का पुत्र था। इसके पिता अपने जमाने के प्रसिद्ध योद्धा ईरान के सुलतान सालार साहु थे। महमूद गजनी ने जब सोमनाथ पर हमला किया था तब मसूद भी उनके साथ था; उस समय उसकी आयु मात्र १२ वर्ष थी। वह अत्यधिक सुन्दर और अल्पायु में ही शस्त्रचालन में पारंगत हो गया था। मुस्लिम जगत में उसका नाम अत्यन्त विख्यात था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का योद्धा युवक था, मुसलमानों का विश्वास था कि मसूद फतह का दूसरा नाम है। उसे वे दूसरा जोसेफ मानते थे।

सोमनाथ की लूट के पांच वर्षों के बाद १०३१ ई० में मसूद ने इस्लाम के झण्डे के तले एकत्र अपनी सेना और अपने पिता सालार शाह की सेना के साथ पूरे हिन्दुस्तान को फतह करने के ईरादे से सिन्ध नदी पार की। उसके दो सेनापतियों, मीर हुसैन अरब और अमीर बाजिद जफर ने ५० हजार घुड़सवारों के साथ राय अर्जुन की छोटी सी रियासत सहूर को ध्वस्त करके ५ लाख सोने के सिक्के मसूद को हिन्दुस्तान की जमीन पर पैर रखते ही भेंट किये। महमूद गजनी के हमले से दो बार लुटे मुलतान ने अनंगपाल (राय जयपाल का पुत्र जिसने महमूद गजनी के पिता सुबुक्तगीन से पराजित होने की लज्जा मे जीवित अग्नि समाधि लेकर आगे का संघर्ष राय अनंगपाल को सौप दिया था) और राय अर्जुन के नेतृत्व में मसूद की सेना का सामना किया। लेकिन इस विशाल सेना के सामने वे कब तक टिक पाते। मसूद की विशाल सेना दिल्ली से बचते हुए अयोध्या पहुँच जाना चाहती थी। दिल्ली में उस समय राय महिपाल का राज्य था। उसका इतना आतंक था कि लाहौर तक जीत लेने वाले महमूद गजनी की भी हिम्मत उससे छेड़खानी करने की नहीं हुई थी। मसूद ने दिल्ली के बाहर मोर्चा जमा लिया। उसके इस्लामी सैनिकों के हौंसले पस्त थे। तभी ईरान से मसूद के चाचा सालार सैफूद्दीन गजनी के विख्यात योद्धा सुलतानु-स-सलातीन मीर बख्तियार, मीर सैयद, अजीजुद्दीन व मलिक बहर-उ-द्दीन अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर मसूद की मदद को आ गये। पाँच दिन तक दिल्ली की राजपूत सेना इस्लामी सेना को काटती रही। अन्तिम सैनिक तक युद्ध लड़ा गया। किसी ने मैदान नहीं छोड़ा। उन दिनों यह बात बड़ी चर्चित थी की मसूद ने सोमनाथ के लिंग पर बने भगवान् शिव के त्रिमुख के नाक कान और मुंह को तोड़कर उन्हें विरुपित किया था। महिपाल के किशोर पुत्र गोपाल ने बड़े शौर्य का परिचय दिया। वह अपनी टोली के साथ दोनों हाथों में तलवार लिए हुए शत्रुओं को काटता-चीरता हुआ अपने सैनिकों से घिरे मसुद तक अभिमन्यु के समान शत्रु-व्यूह तोड़कर जा पहुँचा और एक ही प्रहार से ही उसकी नाक काट डाली, आगे के दो दांत तोड़ दिये और वीरगति को प्राप्त हुआ।

दिल्ली के बाद मसूद ने मीरात पर चढ़ाई की। मीरात और उज्जैन के रायों ने लड़ना उचित न समझकर मित्रता कर ली। मसूद की सेनाओं ने सतराखा (साकेत) जीत कर उसे पूरे हिन्दुस्तान की फतह का मुख्यालय बना लिया। मियां रजब और सालार सैफूद्दीन ने बहराईच, अमीर हसन अरब ने महूना, मलिक फजल ने बनारस जीत लिया। सुलुतानु-स-सलातीन और मीर बख्तियार दक्षिण की ओर कन्नूर तक गये वहाँ मीर बख्तियार हिन्दू सेना द्वारा मार डाला गया।

हिन्दू वीर चुप नहीं बैठे थे। वे हर स्थान पर इनसे जमकर मोर्चा ले रहे थे। पूरे देश में ब्राह्मण घूम-घूम कर युवकों और राजाओं को मसूद पर अंतिम प्रहार करने के लिये संगठित कर रहे थे। मसूद की मां अपने पुत्र पर आनेवाला आपदाओं के बारे में सोच-सोच कर गम में

मर गई । मसूद के पिता सालार साहू भी एक विशाल सेना लेकर साकेत पहुँच गये । कड़ा और मणिकपुर उन दिनों सुदृढ़ राज्य थे और इनके राजा देश भर के राजाओं को संगठित करने में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। हिन्दुस्तान के युद्धों के अनुभवी सालार साहू ने इन्हें ध्वस्त करने का बीड़ा उठाया । दोनों राज्यों ने अन्तिम सैनिक तक युद्ध किया । कड़ा पर मलिक अब्दुल्ला और मीर कुतुब हैदर को मणिकपुर का हाकिम बनाकर वह साकेत लौट आया ।

सालार मसूद का सर्वनाश :

इधर हिन्दू सेनाओं ने बहराईच में मसूद को घेर कर उसका सर्वनाश करने की योजना बना ली थी। १७ राजा राय रईब, राय सईब, राय अर्जुन, राय भीखन, राय कनक, राय कल्याण, राय मकरू, राय सवरू, राय करन, राय बीरबल, राय जयपाल, राय श्रीपाल, राय हरपाल, राय हकरू, राय प्रभु, राय देवनारायण, और राय नरसिंह २० लाख घुड़सवार और ३० लाख पैदल सेना के साथ यहाँ उपस्थित हो गए। कुछ दिनों बाद हिमालय के पर्वतीय क्षेत्रों के शाभूम (सिंहभूम) से राय सहार देव और वलूना से राय हरदेव भी अपनी विशाल सेना लेकर कसाला नदी के तट पर आ गये। बहराईच का हाकिम सालार सैफुद्दीन घबड़ा गया। उसकी मदद के लिये मसूद ने हिन्दुस्तान स्थित अपनी सारी सेना के साथ श्रावण मास की ७वीं तारीख (१०३३ ई०) को बहराईच पहुँच गया। इतनी विशाल शत्रुसेना को हिन्दू वीर प्रतिदिन अपूर्व शौर्य से काटते रहे। प्रातः युद्ध आरम्भ होता और सूर्यास्त होते ही युद्ध रोक दिया जाता।

जब सालार मसूद ने समझ लिया कि अब उसकी सारी सेना पर मौत का शिकंजा कस चुका है और बचने की कोई उम्मीद नहीं है तो उसने अपनी हताश सेना के सभी सैनिकों और अफसरों को एकत्र किया और उनसे बोला ''दोस्तो अभी तक हमने हिन्दुओं से जितनी लड़ाइयां लड़ीं उनमें खुदा ने हमें फतह हासिल कराई है। अब हिन्दुस्तान की सारी सेना हमारे मुकाबले में आकर खड़ी हो गई है। हमारे पूर्वजों की यह परंपरा रही है कि वे कभी युद्ध के मैदान से नहीं भागे। मैं भी उन्हीं के समान मरते दम तक लड़ता रहूँगा। क्या तुम युद्ध मैदान छोड़कर अपने घर लौट जाओगे? खुदा के लिये जो कोई भी यहाँ शहीद होना चाहता है वह मेरे साथ रहे और जो घर जाना चाहते हैं खुदा जानता है मैं अपनी इच्छा से आपको यहां से घर लौट जाने की अनुमति देता हूँ।''

मीरात-ए-मसूदी के लेखक ने लिखा है कि यह कहकर सालार मसूद फूट-फूट कर रो पड़ा। उस समय कौन ऐसा पत्थर दिल हो सकता था जो ऐसी स्थिति में सालार ससूद का साथ छोड़ता। रजब मास की १४वीं तारीख, रविवार (जून १४, १०३३ इ०) के दिन मसूद सहित उसकी सम्पूर्ण सेना का सर्वनाश कर दिया गया। यह विजय सम्पूर्ण थी, अन्तिम दिन का युद्ध बालार्क (बाला + अर्क=करबला) सूर्य भगवान के मन्दिर के सामने बने सूरज कुण्ड के पास लड़ा गया था। मृत्यु के समय मसूद की आयु केवल १८ वर्ष की थी।

इस युद्ध में पौन करोड़ से अधिक सैनिक लड़े थे।* महाभारत के बाद एक स्थान पर इतने सैनिकों ने एक साथ कभी युद्ध नहीं किया। पानीपत के तीनों युद्ध यदि एक साथ लड़े जाते तो भी इसके सामने बौने दिखाई पड़ते। प्रभाव की दृष्टि से यह पानीपत के युद्धों के प्रभाव से किसी माने में कम नहीं था। इस महासमर के बाद करीब दो सौ वर्षों तक किसी विदेशी ने भारत की ओर आंख उठाकर देखने तक की हिम्मत नहीं की। मीरातए-मसूदी के अन्त में लेखक अब्दुर्रहमान चिश्ती ने लिखा है ''सालार मसूद की मृत्यु के बाद अजमेर में मुजफ्फरखान भी मर गया। उसके उत्तराधिकारियों को हिन्दूओं ने मार भगाया। जो मूर्तियाँ मुस्लिम हमलावरों ने तोड़ा थी वे सब पुनः स्थापित हो गईं और हिन्दुस्तान की जमीन पर मंदिरों में घंटियाँ निष्कंटक बजने लगीं। दो सौ साल तक यही स्थिति रही।''

पूर्णतया राष्ट्रीय युद्ध

अपनी विख्यात परम्परा के अनुसार हर छोटा बड़ा हिन्दू राजा शत्रु से युद्ध करने के पूर्व अपने दूत के माध्यम से अपने युद्ध का औचित्य सिद्ध करके, रक्तपात बचाने का प्रावधान भी प्रस्तुत करता था। प्रत्येक युद्ध के पूर्व सालार

---

* [चिश्ती द्वारा दिये गये सैनिकों की संख्या तथा तथ्य स्पष्टतः अतिरंजित है। संपादक]

मसूद को जो पत्र लिखे गये उनमें अद्भुत राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं। राज्य अनेक थे लेकिन सभी पूरे हिन्दुस्तान को अपना देश मानते थे। उन पत्रों के कुछ अंश इस प्रकार है :

× × ×

"क्या आपके लिये यह उचित है कि आप किसी दूसरे के देश पर आक्रमण करें—आपको इसके परिणाम भुगतने होंगे।"

राय अर्जुन—मुलतान युद्ध के समय

× × ×

"अनादिकाल से यह साम्राज्य हमारा और हमारे पूर्वजों का रहा है, यहाँ कोई मुसलमान कभी नहीं रहा—लेकिन तुम दूसरे की सम्पत्ति के अधिकार का सम्मान किये बिना ऐसे देश में टिक गये हो जो तुम्हारा नहीं है, तुम्हारे लिए यह शोभा नहीं देता। साकेत बड़ा मनोरम स्थान है लेकिन तुम्हारे रहने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। तुम्हारे लिए अच्छा यही होगा कि जैसे आए थे अपनी इच्छा से वैसे ही लौट जाओ।"

कड़ा—माणिकपुर का संयुक्त संदेश

× × ×

तुम सुदूर पश्चिमोत्तर से यहाँ आये हो और इस देश के बारे में कुछ नहीं जानते हो वहाँ के लोग कभी भी यहाँ के निवासी नहीं रहे और भविष्य में भी नहीं रहेंगे। अतः बुद्धि से काम लो।"

—१७ रायों का संयुक्त संदेश

× × ×

"अब जब तक हम एक बार युद्ध नहीं कर लेते तब शांति की बात करना हमें - तुम्हें शोभा नहीं देता। तुमने हमारे देश पर आक्रमण किए और हम तुम्हें जीवित छोड़ते रहे। यदि तुम अपने प्राण बचाना चाहते हो तो यह देश छोड़कर कहीं और चले जाओ। यह देश हमारे पूर्वजों का है और हम तुम्हें यहाँ से भगाकर ही दम लेगें।"

सालार मसूद को अंतिम चेतावनी

× × ×

'यह मातृभूमि हमारे पूर्वजों की है जिसे यह बालक हमसे छीनना चाहता है। जितनी तेजी से हो सके आओ, अन्यथा हम अपना देश खो देंगे।"

बहराईच महासभर की तैयारी के निमित्त राजाओं को भेजा गया सर्कलुर।

× × ×

"हम आ रहे हैं, महासमर की तैयारी करते रहो।"

—राजाओं का उत्तर

सालार मसूद के उत्तर :

सालार मसूद के जीवनी लेखक मीरात-ए-मसूदी के इतिहासकार शेख अब्दुर्रहमान चिश्ती ने इस पुस्तक को धार्मिक आख्यान के रूप में लिखा है और पुस्तक के प्रारम्भ में मुस्लिम भाइयों से अनुरोध किया है कि वे आध्यात्मिक उन्नति के लिए इसका पाठ करें। पराजित होने वाले गाजी मियाँ मसूद को "बड़ापीर" के पूज्य स्थान पर प्रतिष्ठित करने वाले उसके वे विचार हैं जो उन्होंने अभिव्यक्त किये और जिन्होंने अपने समय में लाखों मुसलमानों को दूसरे देशों पर हमला करने का नैतिक बल प्रदान किया था, उन्हें आध्यात्मिक शक्ति दी थी। सालार मसूद ने जो उत्तर दिये वे बतलाते हैं कि वह तलवार के जोर पर कब्जा करने को ही न्याय संगत मानता था—वह पृथ्वी को खुदा की जमीन मानता था और वह जिसे चाहे उसे दे। हिन्दू राजाओं के दूतों के द्वारा दिये गये संदेशों के जो उत्तर सालार मसूद ने दिये उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं।

'यह जमीन खुदा की है। उसके इस गुलाम का कोई राज्य नहीं है। लेकिन खुदा जिसको यह जमीन देगा यह उसकी हो जाएगी। हमारे पूर्वज असादुल्ला-गालिब के जमाने से हमारा यह सिद्धांत रहा है कि खुदा के न मानने वालों को मुसलमान बना लो और जो मुसलमान न बनें उसे मौत के घाट उतार दो।"

—राय अर्जुन के दूत को उत्तर

× × ×

"गनीमत है तुम राजदूत हो कहीं किसो दूसरे ने ऐसी अपमानजनक बातें हमसे कहीं होती तो हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते। जाओ राजाओं से कह दो यह देश खुदा का है—इसे वह जिसे चाहे उसे दे—यह मत सोचना कि हम यहाँ से चले जाने के लिए आये हैं।। हम यहाँ बस जाने के इरादे से आए हैं। और खुदा के हुक्म से इस मुल्क से खुदा पर विश्वास न करने वालों को उखाड़ फेंकेंगे।"

—कड़ा मालिकपुर के संयुक्त संदेश का उत्तर

× × ×

विस्मृत प्रातः स्मरणीय पूर्वंज :

सालार मसूद के लाखों सैनिक लूटपाट और साम्प्रदायिक जनून से लड़ रहे थे। लाखों हिन्दू शुद्ध राष्ट्रीय भावना से शौर्य पूर्वक विदेशी हमलावरों से जूझ रहे थे। उनके विचार और युद्ध की अनिवार्यता के औचित्य कभी पुराने नहीं पड़ सकते। हिन्दू राजाओं द्वारा भेजे गये सन्देशों का एक-एक शब्द पूर्णतया न्यायोंचित है, सत्य पर आधारित है। आज पूरी दुनिया के राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध इन्हीं विचारों पर आश्रित है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र का यही प्रमुख आधार है। भारत की विदेशी नीति के उद्घोषक पंचशील सिद्धान्त का भी यही आधार है। जबकि सालार मसूद के विचार पुराने पड़ चुके हैं और पूर्णयता अन्यायपूर्ण रुप में सर्वमान्य हैं। स्वदेश के सार्वभौम स्वायत्त संप्रभुसत्ता के एक स्वर से स्वीकृत सिद्धान्त के कारण सालार मसूद के विचार आज इस्लामी देशों में ही असामयिक हो चुके हैं। वे भी परस्पर उन्हीं विचारों के आधार पर अपने सम्बन्ध कायम होते हुए देखना चाहते हैं जो हिन्दू राजाओं ने सालार मसूद के प्रति व्यक्त किये थे। वे लाखों हिन्दू जिन्होंने इस संघर्ष में शौर्यपूर्वक बलिदान दे दिया वे सम्पूर्ण मानवता के शाश्वत जीवन मूल्यों के लिये बलिदान हुए। सम्पूर्ण मानवता विशेषकर भारतवासियों के वे स्वाभिमानी प्रातः स्मरणीय पूर्वंज हैं जिनकी चर्चा तक भारत के इतिहास में नहीं हो रही है। बहराइच के महासमर की जिन्होंने योजना बनाई, विदेशी हमलावर का इस प्रकार सर्वनाश किया उन्हें पीढ़ियाँ याद रखें, जिन्होंने निर्णायक भूमिका निभाई और भारतवर्ष के एक "न भूतो न भविष्यति" स्वर्णिम अध्याय का अपने रक्त से आलेखन किया। उनके प्रति प्रतिवर्ष श्रद्धांजलि सुमन चढ़ने चाहिये थे। उनकी स्मृति में विजय स्तम्भ स्थापित होने चाहिये थे। लेकिन दुर्भाग्य है हम उन राष्ट्रीय महापुरुषों के नाम तक नही जानते। कम से कम हम इतना तो कर ही सकते हैं कि हिन्दुओं के प्रखर संगठनकौशल, सुनियोजित स्वाभिमानी शौर्य का उद्घाटन करने वाली इस स्वर्णिम घटना को अपने इतिहास में स्थान दें। पाठ्यपुस्तकों में नये अध्याय के रुप में इसका समावेश हो यह जातीय, धार्मिक, राष्ट्रीय नहीं मानवीय कर्तव्य भी है। इससे सत्य के प्रति, इतिहास के प्रति, न्याय करने का हम अपना कर्तव्य पूरा कर सकेगें। इससे भारतवर्ष को समझने और इस्लाम को समझने में हमारी समझ में वृद्धि ही होगी। सैन्य अध्ययन के लिये यह एक नूतन विषय प्रस्तुत करने में सक्षम महान घटना है। भारतीय इतिहास के इस प्रश्न का भी यह है उत्तर कि करीब पौने दो सौ सालों तक (१०३३ से ११९२ ई०) किसी विदेशी ने भारत पर कोई आक्रमण करने का कोई साहस क्यों नहीं किया।

फैजाबाद के किसानों द्वारा ब्रिटिश सरकार को चुनौती

वीर सिंह*

धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सूतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज, घर में गाय है, न बछिया, न पैसा। "गोदान" के हीरो का बीस आने का गोदान बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवध के किसानों की विपन्न अवस्था का सच्चा प्रतीक है। किसानों को इस दशा में पहुँचाने का श्रेय ब्रिटिश सरकार द्वारा जमींदार की सहमति से १८८६ ई० में पारित किये गये अवध रेन्ट ऐक्ट को था। इस ऐक्ट के अन्तर्गत किसानों से प्रत्येक ७ वर्ष की समाप्ति के पश्चात् जमींदार भरपूर नजराना लेते थे, अन्यथा उन्हें जमीन से बेदखल कर देते थे। इसके साथ ही प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अवध के निवासियों को भीषण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। युद्ध काल में कपड़े, नमक तथा मिट्टी के तेल के मूल्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। उसके पश्चात् १९१८ ई० में पर्याप्त वर्षा न होने तथा निमोनियाँ के प्रकोप ने जन सामान्य को और भी जर्जर बना दिया। जमींदारों, व्यापारियों, जमाखोरों तथा महाजनों ने इस स्थिति से भरपूर लाभ उठाया। इस दुखद स्थिति के विरोध में अवध के किसानों एवं मजदूरों ने १९२०–२१ ई० में एक व्यापक आन्दोलन किया जिसने ब्रिटिश सरकार की जड़ों को हिला दिया। उनका यह आन्दोलन प्रत्यक्ष रूप से तो जमींदारों के विरूद्ध था परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने अपना रोष जमींदारों के संरक्षक ब्रिटिश शासकों के प्रति भी प्रकट किया।

किसानों के इस आन्दोलन का सूत्रपात्र प्रतापगढ़ में बाबा रामचन्द्र द्वारा गठित किसान सभा नामक संगठन के माध्यम से हुआ। यह विशुद्ध किसान आन्दोलन परिस्थितियों के वशीभूत होकर राजनैतिक आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। गाँधी जी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में किसानों का विशाल समूह पदयात्रा करके प्रतापगढ़ से इलाहाबाद पहुँचा परन्तु दुर्भाग्यवश वहाँ गाँधी जी से भेंट न हो सकी। किसानों ने वहाँ अपनी व्यथा पं० जवाहरलाल नेहरू तथा पं० गौरीशंकर को सुनायी। किसानों की इस व्यथा से द्रवित होकर पं० जवाहरलाल नेहरू किसानों से जन सम्पर्क हेतु ग्रामीण अंचलों में गये। यही वह पहला अवसर था जब कि किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ।

राष्ट्रीय नेताओं से किसानों का संपर्क सूत्र स्थापित होते ही विद्रोह की एक लहर जो प्रतापगढ़ से उठी उसने देखते ही देखते संपूर्ण अवध को अपनी चपेट में ले लिया। फैजाबाद का किसान भी इससे अछूता न रह सका और उसने भी अपनी समस्याओं के निदान हेतु ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष की दुन्दुभी बजा दी।

फैजाबाद जिले के पूर्वी भाग में जहंगीरगंज एवं बसखारी पुलिस स्टेशनों के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र किसान आन्दोलन से प्रभावित हुये। इस क्षेत्र के अधिकांश गाँवों में छोटे किसान एवं मजदूर वर्ग के लोग निवास करते थे। १२ जनवरी १९२१ ई० को एक सभा हुई जिसमें जमींदारों पर आक्रमण करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णय के अनुसार तुरन्त कार्यवाही की गई और उनके घरों को लूटा गया। लूटपाट की यह कार्यवाही १३ जनवरी एवं १४ जनवरी की दोपहर तक चलती रही। लूटपाट करने वालों में मुख्य रूप से हरिजन एवं पिछड़ी जातियों के लोग थे जिनसे जमींदार लोग जबरन बेगार करवाते थे। इस कार्यवाही की सफलता के परिणाम स्वरूप इसके समर्थकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई और यदि पुलिस दल के साथ पुलिस अधीक्षक एवं डिप्टी कमिश्नर घटनास्थल पर तुरन्त न पहुँचते तो यह आन्दोलन और भी विकराल रूप धारण कर सकता था। सरकार द्वारा इन घटनाओं की जाँच १९ जनवरी तक की गई। १९ जनवरी को

---

* प्रकाशन सहायक, उ० प्र० राजकीय अभिलेखागार, लखनऊ।

केदार नाथ, देव नारायण पाण्डेय एवं त्रिभुवन दत्त यह पता लगाने के लिये बसखारी गये कि किन परिस्थितियों से वशीभूत होकर सरल और सज्जन किसानों ने लूट-पाट की। बसखारी पहुँचने पर अलोपी नामक व्यक्ति ने, जो कि मकरही राज्य का कर्मचारी था, सम्भवत: पुलिस वालों के कहने में आकर देव नारायण पाण्डेय एवं केदार नाथ की लाठियों से पिटाई की। उस लाठी को पुलिस ने कब्जे में ले लिया तथा थानेदार ने उन लोगों से रिपोर्ट लिखाने को कहा। लेकिन उन लोगों ने इस आधार पर रिपोर्ट लिखाने से इंकार कर दिया कि वे आपस में लड़कर पुलिस वालों को लाभ नहीं पहुँचाना चाहते। थानेदार इस बात को सुनकर वापस चला गया परन्तु देव नारायण ने थाने के समक्ष सत्याग्रह करने का निर्णय लिया क्योंकि वह चाहते थे कि किसान इन लूट-पाट की घटनाओं के लिये प्रायश्चित करें। यह सूचना मिलने पर वहाँ डिप्टी कमिश्नर ने दफा १४४ लागू करने के आदेश दे दिये। २० जनवरी को प्रात:काल फैजाबाद के डिप्टी कमिश्नर पुलिस अधीक्षक के साथ बसखारी थाने पर पहुँचे और देव नारायण से सत्याग्रह समाप्त करने का अनुरोध किया। लेकिन उन्होंने उनका कहना मानने से इन्कार कर दिया। वहाँ पर देव नारायण के समक्ष अपार जन समुदाय देखते ही देखते एकत्र हो गया जिसे सम्बोधित करते हुए केदारनाथ ने कहा कि भविष्य में यदि कोई व्यक्ति उनसे मारपीट और लूट के लिए कहे तो वे उसकी बात न सुनकर उसे पंचायत के समक्ष प्रस्तुत करें। जेल कोई खराब चीज नहीं क्योंकि यदि जेल न होता तो न भगवान कृष्ण जन्म लेते और न ही अली मौलाना और गाँधीजी महात्मा बन सकते थे। देश के कल्याण के लिए उन्हें कभी जेल जाने में संकोच नहीं करना चाहिये। परन्तु मारपीट और लूट में जेल जाना अपमानजनक बात है। स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए पुलिस ने शक्ति के प्रयोग को मूर्खता समझा। डिप्टी कमिश्नर ने देव नारायण से अनुरोध किया कि वह जनसमुदाय से शान्तिपूर्वक हट जाने को कहें। देव नारायण ने उनके इस अनुरोध को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि वे पहले दफा १४४ को वापस लेने की घोषणा करें तथा कल की घटनाओं की जांच करके उसके परिणामों से हम लोगों को २७ जनवरी को होने वाली पूर्व निर्धारित सभा से पहले ही अवगत करा दें। डिप्टी कमिश्नर ने तत्काल दफा १४४ वापस ले लिया। इसके पश्चात देव नारायण ने भीड़ से हट जाने की प्रार्थना की।

फैजाबाद के किसानों के इस उत्साह से प्रेरित होकर पं० जवाहरलाल नेहरू २७ जनवरी १६२१ ई० को किसानों के मार्ग दर्शन हेतु फैजाबाद पधारे। उसी दिन अकबरपुर पुलिस स्टेशन के अन्तर्गत गोहना ग्राम के निकट उनकी अध्यक्षता में एक किसान सभा का आयोजन किया गया। फैजाबाद मंडल के तत्कालीन आयुक्त मैलकाम हेली की रिपोर्ट के अनुसार यह सभा ८ घण्टे चली तथा इसमें लगभग ३० से ४० हजार व्यक्ति उपस्थित थे। इस सभा में जिन प्रमुख किसान नेताओं ने भाग लिया उनमें फैजाबाद के प० दया शंकर रईस, परमेश्वरी सहाय वकील, मसूद आलम, केदारनाथ, देव नारायण पाण्डेय, त्रिभुवन दत्त, लल्लनजी, विश्वनाथ शर्मा, श्रीमती रमा देवी, शिवराम तिवारी, मोहम्मद नबी, हफीज आलम एवं इलाहाबाद के कमालुद्दीन जाफरी, पं० देवी दत्त, पं० गौरी शंकर तथा अवध के किसान आन्दोलन के अग्रणी बाबा रामचन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस सभा को सम्बोधित करते हुए पं० नेहरू ने कहा कि अवध के किसानों में अब जागृति आ गयी है और वे तब तक चैन से नहीं बैठेंगे जब तक उनकी कठिनाइयाँ दूर नहीं हो जाती हैं। उन्होंने कहा कि किसान अब यह समझ चुका है कि महात्मा गाँधी और अन्य नेताओं ने ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए आन्दोलन छेड़ दिया है, क्योंकि इस सरकार के मन में भारतीयों के कल्याण की तनिक भी इच्छा नहीं है। इसलिए सभी भारतीयों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे इस आन्दोलन में स्वराज्य प्राप्ति हेतु तन मन एवं धन से भाग लें। इसके पश्चात् उन्होंने उन प्रस्तावों के विषय में संक्षेप में बताया जो कि इस सभा में प्रस्तुत किये जाने वाले थे, विशेष रूप से उन्होंने उस प्रस्ताव की चर्चा जो कि रायबरेली आन्दोलन में शहीद हुए किसानों के प्रति संवेदना प्रकट करने हेतु रखा जाने वाला था। पं० नेहरू ने फैजाबाद में हुई लूट की घटनाओं के प्रति दु:ख भी प्रकट किया।

एक प्रस्ताव के द्वारा लूटपाट में सम्मिलित व्यक्तियों की निन्दा की गयी। प्रस्तावक श्री मसूद आलम ने कहा

कि न ही गाँधी जी और न ही अन्य कोई मुस्लिम नेता इस प्रकार की घटनाओं का समर्थक है। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बेदखली और नजराने के माध्यम से तालुकेदारों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों से छुटकारा पाना है तथा ब्रिटिश सरकार को हमेशा के लिए उखाड़ फेंकना है। लेकिन यदि किसान लूटपाट में सम्मिलित होंगे तो निश्चित रूप से वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल नहीं होंगे।

रायबरेली के आन्दोलन में शहीद हुए किसानों के प्रति संवेदना प्रकट करने के लिए फैजाबाद के लल्लनजी ने प्रस्ताव रखते हुए कहा कि रायबरेली के जिन किसानों ने इस आन्दोलन में अपने प्राणों की आहुति दी है उनके प्रति हम सभी अत्यन्त दुखी हैं। इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए केदारनाथ की धर्मपत्नी श्रीमती रमा देवी ने कहा कि यह आन्दोलन किसानों के लिए महाभारत युद्ध के समान है क्योंकि जिस प्रकार से महाभारत का युद्ध द्रौपदी की लाज बचाने के लिये लड़ा गया था ठीक उसी प्रकार से यह आन्दोलन भारत माता की सम्मान की रक्षा के लिए चलाया जा रहा है। उन्होंने सरकारी नौकरों की आलोचना करते हुए उन्हें ब्रिटिश सरकार का गुलाम बताया तथा उनसे अपनी-अपनी नौकरी छोड़कर भारत माता से क्षमा माँगने के लिए ललकारा क्योंकि उन्हीं के द्वारा अंग्रेजों ने पंजाब और रायबरेली में भीषण नर संहार कराया था।

एक अन्य प्रस्ताव के माध्यम से श्री कमालुद्दीन जाफरी ने कहा कि सरकार के अत्याचार इस सीमा तक बढ़ गये हैं कि स्वराज्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से किसान अब संतुष्ट नही हो सकता है। टांडा के श्री मोहम्मद नबी का विचार था कि स्वराज्य की प्राप्ति केवल हिन्दू मुस्लिम एकता द्वारा ही सम्भव है। इसलिए भारतीयों को अपने समस्त मतभेदों को भुलाकर सरकारी तन्त्र को पंगु बना देना चाहिए। ऐसी स्थिति में बेदखली स्वतः समाप्त हो जायेगी।

किसान आन्दोलन के प्रमुख नेता बाबा रामचन्द्र ने लोगों से अनुरोध किया कि वे तत्काल रायबरेली में शहीद हुये किसानों की सहायता के लिए दान दें और जिनके पास इस समय पैसा नहीं है वे धनादेश के द्वारा पं० जवाहर लाल नेहरू के पास इलाहाबाद में धन भेजें। उनके इस अनुरोध पर किसानों ने सहर्ष यथा सम्भव दान स्वरूप धन प्रदान किया।

अन्त में अपने अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने असहयोग आन्दोलन के उद्देश्यों के विषय में प्रकाश डाला तथा सभा में उपस्थित व्यक्तियों से अदालतों, सरकारी नौकरियों, सरकारी उपाधियों एवं विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के विषय में उनके मत जाने।

फैजाबाद के किसान आन्दोलन को कुचलने के लिए ब्रिटिश सरकार ने दमन की नीति अपनायी जिसके अन्तर्गत किसान आन्दोलन के प्रणेता बाबा रामचन्द्र को २९ जनवरी १९२१ को प्रातःकाल अकबरपुर में पुलिस अधीक्षक ने उप पुलिस महानिरीक्षक स्काट आकनर की उपस्थिति में गिरफ्तार कर लिया। पुलिस को इस बात की आशंका थी कि उनकी गिरफ्तारी से उपद्रव हो सकता है इसलिए उन्हें सीधे अकबरपुर से ट्रेन द्वारा विशेष पुलिस दस्ते के साथ उप पुलिस महानिरीक्षक के संरक्षण में सीधे फैजाबाद भेजा गया। ट्रेन जैसे ही गोसाइंगंज रेलवे स्टेशन के बाहरी सिगनल पर पहुँची भीड़ ने उसे रोक लिया। उप पुलिस महानिरीक्षक स्काट आकनर ने भीड़ को चेतावनी दी कि यदि वह हटेगी नहीं तो पुलिस को गोली चलानी पड़ेगी। इस चेतावनी का भीड़ पर कोई प्रभाव नहीं हुआ, वह चट्टान के समान अडिग रही। इस पर घुड़सवार पुलिस दस्ते ने भीड़ को तितर बितर करने का प्रयत्न किया। इस कार्यवाही में श्री त्रिभुवन सिंह, दरोगा घोड़े से गिर पड़े जिनको भीड़ ने पीटना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें किसी प्रकार से बचा कर उपचार हेतु फैजाबाद जिला अस्पताल भेजा गया। इस प्रकार कार्यवाही के असफल हो जाने के पश्चात् पुलिस ने १७ चक्र गोलियाँ चलायी जिसमें कई व्यक्ति घायल हो गये। इसके पश्चात् ही ट्रेन गोसाइंगंज से फैजाबाद के लिए जा सकी। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भीड़ में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या लगभग ५००० थी।

बाबा रामचन्द्र की गिरफ्तारी के पश्चात् फैजाबाद में किसान आन्दोलन को संगठित करने का श्रेय केदारनाथ को है। केदारनाथ ने गाँधीजी से व्यवस्थित रूप से सम्पर्क स्थापित किया तथा उनसे फैजाबाद की जनता का उत्साह-

वर्धन करने के लिए फैजाबाद पधारने का आग्रह किया। गाँधीजी ने उनके आग्रह को स्वीकार कर लिया, लेकिन उनके आने के पूर्व ही केदारनाथ को गिरपतार कर लिया गया। १० फरवरी १९२१ को गाँधीजी ने फैजाबाद आकर एक जनसभा को सम्बोधित किया। उनके साथ मौलाना अबुल कलाम आजाद और मौलाना मुहम्मदअली भी सभा में उपस्थित थे। गाँधीजी ने फैजाबाद के किसानों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिये बधाई दी। उन्होंने किसानों को जमीदारों के प्रति हिंसात्मक रवैया न अपनाने की सलाह दी क्योंकि उनके विचार से जमींदार भी आम जनता की तरह गुलाम हैं। उन्होंने घोषणा की कि हम ब्रिटिश सरकार, जो कि सबसे बड़ी जमींदार है और उसने हमारी अपार धन-सम्पत्ति को लूट लिया है, उससे युद्ध की स्थिति में हैं, लेकिन हमारा युद्ध तलवार से न होकर असहयोग आन्दोलन से होगा। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने भाषण में हिन्दुओं और मुसलमानों से एकजुट होकर ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने को कहा। ११ फरवरी १६२१ को अयोध्या में पं० चन्दीराम की अध्यक्षता हुई सभा को सम्बोधित करते हुए गाँधीजी ने कहा कि भारत में ५६ लाख साधु और मुल्ला हैं, यदि वे सभी एकजुट होकर प्रार्थना करें तो भारत को अंग्रेजों से छुटकारा मिल सकता है। उनका विचार था कि भारत को स्वतन्त्रता अहिंसा, असहयोग तथा स्वदेशी नामक अस्त्रों से ही मिल सकती है।

आजादी की लड़ाई में फैजाबाद के किसानों द्वारा दिए गये योगदान की ये कुछ झलकियाँ मात्र हैं। निश्चित रूप से इस आन्दोलन में ब्रिटिश सरकार को सोचने के लिए मजबूर कर दिया जिसके परिणामस्वरूप अवध रेन्ट ऐक्ट, जो कि आन्दोलन का तात्कालिक कारण था, संशोधित कर दिया गया। १६२१ में पास किया गया नया अवध रेन्ट ऐक्ट फैजाबाद मंडल के तत्कालीन आयुक्त मैलकाम हेली के प्रस्ताओं पर आधारित एक ऐसा समझौतावादी दस्तावेज था जो न तो पूर्णतः किसानों को ही संतुष्ट कर सका और न ही जमीदारों को। इस ऐक्ट के अन्तर्गत जबरन बेदखली और नजराने की प्रथा का अन्त कर दिया गया तथा जोतदार को उनकी जमीन पर पूर्ण स्वामित्व निर्धारित कर लगान पर, जो कि प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात् परिवर्तनीय था, मिल गया।

इस किसान आन्दोलन का एक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि आने वाले संघर्ष के दिनों में किसानों तथा कांग्रेस का सम्बन्ध प्रगाढ़तर होता गया। स्वतन्त्रता का आर्थिक स्वरूप क्या है, इसका ज्ञान राष्ट्रीय नेताओं को किसान आन्दोलन के ही माध्यम से हुआ तथा उसी के पश्चात् कांग्रेस द्वारा संचालित आन्दोलन सही अर्थों में एक राष्ट्रीय आन्दोलन बन सका।

महीयसी कैकेयी का राष्ट्रीय चारित्र्य एवं औदात्य

अनन्त रघुनाथ सहस्रबुद्धे 'अरस'*

कहते हैं कि महर्षि अगस्त्य ने समुद्र पान किया था, अर्थात् कोई अपार पुरुषार्थ प्रकट किया था । कुछ इतिहासविदों के अनुसार अगस्त्य ने वालीद्वीप समूह ही नहीं अनेक दूरवर्ती क्षेत्रों तक वैदिक संस्कृति का प्रचार प्रसार किया था तथा वन्य एवं आसुर संस्कारों को मानवों के हृदयक्षेत्र से उध्वस्त किया था । व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना ही विराट रहा हो, कभी न कभी वह वामन हो ही जाता है, और, यदि पूर्ण कार्यसिद्धि के पूर्व ही वह वामन हो जाय तो फिर उसे किसी अन्य विराट की सृष्टि करनी पड़ती है । श्री रासबिहारी बोस को जिस प्रकार वार्धक्य के कारण अपने हेतुपूर्ति के लिये श्री सुभाषचन्द्र बोस की आवश्यकता पड़ी थी, उसी प्रकर त्रेता में अगस्त्य मुनि को किसी राम की खोज थी । राम की खोज पूरी होने पर तथा कार्य सिद्धि होने के पश्चात् ही वे तत्कालीन शिव को राम कथा सुनाकर अभिभूत कर सके थे ।

(मानस, बा० का०, दो० ४७ चौ० २)

दशरथ जनक जैसे महाप्रतापी राजाओं के होते हुए भी दक्षिणापथ आसुरी भावापन्न शक्तियों से आक्रान्त होता जा रहा था । इन राजाओं की दृष्टि राज्य सीमा तक ही सीमित थी । इन्हें इन्द्र के पुत्र केष्टीवान (ऋग्वेद का दशम मण्डल) की भाँति सशरीर राष्ट्र-पुरुष के दर्शन नहीं हो रहे थे । 'असंतुष्ट द्विज: नष्ट: सन्तुष्ट: च महींधिप:.....' की स्थिति थी । तभी तो जनक ने अहंकार के कारण अपनी शर्त पर सीता जैसी सद्गुण सम्पन्न सद्य: किशोरी कन्या को दांव पर लगाया था ।

(मा०, बा०, का०, दो० २४९ चौ० १ एवं २)

यह तो रावण, बाणासुर आदि की श्रेष्ठता थी कि सीता जैसी सुशील सद्य: किशोरी कन्या को देखकर पिनाक को केवल देखा और बिना स्पर्श किये ही चले आये । राम द्वारा पिनाक सन्धान के पश्चात् उन्होंने अपने विक्रम प्रदर्शन का मोह नहीं किया और न ही बलात् सीताहरण की चेष्टा ही की जो कि इस प्रकार के विवाह की सामान्य घटना ही मानी जाती । यह रावण ही था जिसके यहाँ सीता हरण के पश्चात् भी निष्कलंक बनी रह सकी । आज तो कोई सीता किसी राम के यहां भी निष्कलंक रह सकेगी इसमें सन्देह है ।

अगस्त्य को जिस राम की खोज थी उसी प्रकार राम की खोज तत्कालीन अन्य चिन्तकों को भी थी । गुरु वशिष्ठ के निर्देशन पर ही विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को यज्ञ रक्षा के बहाने दीक्षित करने की बात सोची थी जबकि वे स्वयं किसी से कम धनुर्धर न थे । जो विश्वामित्र राम को ताड़का सुबाहु आदि को पराभूत करने के बाद भी शस्त्र शिक्षा दे सकते थे, वे निश्चय ही उनके निवारण में सक्षम भी थे ।

रावण जिसका नाम ही रावण पड़ गया था (रावण सबको रुलाने वाला), जिसके इन्द्रजीत जैसे यशस्वी व पराक्रमी सुपुत्र थे, उससे मोर्चा लेना सरल न था । रावण से सारी देवशक्ति परास्त थी । ऐसी स्थिति में जहां अपार पराक्रम, धैर्य, शील, चातुर्य व वीरता आपेक्षित थी वहीं शत्रु को असावधान बनाये रखना भी अत्यावश्यक था । बाली जैसे महाबली से रावण की मैत्री सन्धि हो चुकी थी और रावण की आपूर्तिरेखा भी बाली द्वीप समूह ही था । सम्भवत: बाली की ही अनुमति से रावण दक्षिणापथ (द्रविड़ प्रदेश) की ओर अग्रसर हो सका था जिसके क्षत्रप थे खरदूषण जैसे बीर । बाली के अपार अहंकार व कूटनीतिक अज्ञान के ही कारण धीरे-धीरे रावण बाली से भी अधिक शक्तिशाली बन गया था ।

कैकेयी काकेशस की थी । उसके सामने समग्र भारतवर्ष था । वह स्वयं अप्रतिम विदुषी एवं वीरांगना थी । देवासुर संग्राम में दशरथ के पृष्ठ भाग की ही नहीं, दक्षिण-वाम भाग की भी रक्षा का दायित्व पूर्ण सफलता के साथ

---

* शास्त्री महाविद्यालय, गोण्डा ।

निभाया था। जिसने स्वयं के प्राणों की चिन्ता नहीं की तथा अपार पीड़ा व कष्ट सहन करने की विलक्षण क्षमता प्रदर्शित की थी, जिसके सम्मुख आसुरी शक्तियों की बर्बरता, तानाशाही, भौतिक सुखोपभोग की भयावह ईप्सा तथा मर्यादाहीन आचार की इयत्ता स्पष्ट हो चुकी थी; उस कैकेयी के मस्तिष्क में भारत राष्ट्र की चिन्ता हो तथा जिसे आसुरी शक्तियों की प्रभाववृद्धि सालती हो यह अतीव स्वाभाविक ही था।

वस्तुतः विश्वामित्र के निर्देशन में प्राप्त राम की प्रथम विजय तथा जनक के धनुषयज्ञ ने राम की परीक्षा को सार्थकता प्रदान की थी। हो सकता है कि किसी राम की ऐसी खोज इसके पूर्व भी करने की चेष्टा हुई हो किन्तु निष्फल होने से वे खोजें इतिहास दृष्ट्या उल्लेख्य भी नहीं थीं। राम-लक्ष्मण की मानसिक, कूटनीतिक व सामरिक तैयारी तथा क्षमता का आकलन आश्वस्ति की सीमा तक पूर्ण हो चुका था। तभी अग्रिम योजना की दृष्टि से कैकेयी व सरस्वती जैसी परम विदुषी नारियों को इस हेतु से विश्वास में लिया गया। सम्भवतः परशुराम को भी इस खोज की जानकारी थी और इसीलिये उन्होंने स्वयं अपने ढग से परीक्षा लेकर राम के सम्बन्ध में आश्वस्त होना चाहा था। पिनाकिन और परशुराम का धनुष्य निश्चय सामान्य शस्त्र प्रक्षेपक न होकर अत्यन्त जटिल यांत्रिक प्रक्षेपक अस्त्र होंगे।

रावण को असावधान रखने के लिये घोर गोपनीयता अपेक्षित थी। दशरथ को रहस्य ज्ञात होने पर गोपनीयता भग होने के डर के साथ ही स्वयं दशरथ इस कार्यक्रम में अपने अहंकार के कारण कितनी सीमा तक सहभागी होते, कहा नहीं जा सका सकता था। इसीलिये राम के गृह निष्कासन का आडम्बर रचना, नीति की दृष्टि से अत्यावश्यक था। दशरथ को रहस्य ज्ञात न होने पर उनको वार्धक्य में प्राप्त मर्माहति दिवंगति प्रदान कर सकती थी, सम्भवतः इसीलिये सरस्वती को राष्ट्रीय आवश्यकता पर कैकेयी को उसकी उपयुक्ततम भूमिका समझानी पड़ी। भारतीय नारी स्वेच्छया वैधव्य कभी स्वीकार नहीं कर सकती। निरन्तर लांछित होते रहने की विभीषिका के साथ-साथ दशरथ को वार्धक्य में मर्माहति उसके लिये वैधव्य खींच कर ला सकती थी, यही अनुमान कैकेयी की भूमिका निर्वहन में होने वाली हिचक के पीछे कारणीभूत था। किन्तु अन्ततः वीरांगना कैकेयी ने रणनीति की इस उपयुक्तता के कारण ही सर्वदा के लिये लगने वाले लांछन तथा वैधव्य की दोहरी मार खाना स्वीकार किया तथा सम्पूर्ण जीवन प्रतिक्षण की अपमानास्पद मृत्यु की महार्घ पीड़ा का वरण किया। तप की यह पराकाष्ठा थी। संसार के किसी राष्ट्र में मानवहित में तथा राष्ट्रहित में ऐसा अपार त्याग ढूँढ़े नहीं मिल सकता।

चित्रकूट में कैकेयी का भरत के साथ जाना अपने आप में लांछित चरित्र की दृष्टि से विचित्र है। यदि कैकेयी को पाश्चात्ताप होता तो वह स्वयं राम से लौटने का आग्रह करती, स्वयं को कोसती। किन्तु ऐसा न होकर राम ने सर्वप्रथम कैकेयी को सांत्वना देने का प्रयास किया है क्योंकि दशरथ के दिवंगति की सूचना राम को कैकेयी को ही देनी पड़ी थी। राम पूरी योजना से अवगत थे और कैकेयी के अपार त्याग की निस्सीमता आंक पाये थे, इसीलिये राम ने आजीवन कैकेयी का अपार सम्मान दिया था। कैकेयी भरत के साथ चित्रकूट तक केवल लांछित होने नहीं आई थी। उसे भय था कि कहीं भरत का स्नेह व वशिष्ठ का प्रकारान्तर से दिखावे का आग्रह नवयुवा राम को दिभ्रमित न कर दे और सारे किये-कराये पर पानी न फिर जाय। इसीलिये कैकेयी आई थी कि 'राम तुम्हारे ही हाथ मेरी लज्जा व राष्ट्र की अस्मिता सुरक्षित रखने का दायित्व हैं। और राम ने भी सम्भवतः दशरथ मृत्यु के पश्चात् कैकेयी से ही सर्वप्रथम भेंट करना आवश्यक व उपयुक्त इसीलिए समझा क्योंकि राम, कैकेयी की महनीय भूमिका से सुपरिचित थे (मा०, अ० का०, दो० २४३, चौ० ४) कौशल्या आदि माताएँ केवल माताएँ थीं। किन्तु कैकेयी माता एवं राट्रमाता दोनों ही रूपों में विशेष सम्मान्य थी।

कैकेयी के दो वर भी अत्यन्त सूचक हैं। १—१४ वर्ष का राम को वनबास तथा, २—भरत को राज्य। लक्ष्मण व शत्रुघ्न दोनों ही उग्र और असंयत वीर थे। ऐसे व्यक्ति राज्य-संचालन के लिए अनुपयुक्त होते हैं। इसीलिए 'भरत को राज्य' यह वर आवश्यक था। दूसरे इस वर से स्वार्थ की ही गन्ध मिल सकती थी किसी राष्ट्रीय योजना की नहीं। इसलिये भी वर की उपयुक्तता असंदिग्ध थी। शायद इसीलिए राज्य का द्वितीय स्थाना-

धिकारी होने से लक्ष्मण ने भी योजना के पक्ष में अनजाने ही राम का साथ देना तय किया—ठीक वैसे ही जैसे उच्चतम न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय जिन लोगों की वरीयता का नजर-अन्दाज करने की चेष्टा हुई थी, उन सभी ने त्यागपत्र का रास्ता चुना था (ग्रोवर, खन्ना, आदि)। भरत, राम के ही समान शीलवान थे तथा भरत के ही निर्देशन में द्वितीय रक्षापंक्ति की साधना सम्भव थी। इसका प्रमाण हनुमान द्वारा संजीवनी लेकर लंका लौटने के समय मिलता है, जब कि भरत ने हनुमान को बलात् रोककर शत्रु-मित्र की जानकारी की थी। भरत निरन्तर उत्तर की ओर से सजग रहते थे कि कहीं पीछे से राम पर वार न हो सके। इस घटना से यह स्पष्ट है कि यदि अवसर आता तो भरत राम की सहायता हेतु सेना सहित अवश्य ही दौड़ जाते या शत्रुघ्न को भेजते। (मा०, लं० का०, दोहा ५ से दो० ६० व चौ० ६ तक)।

राम जब वनप्रस्थित हुए तब वे बीस वर्ष से अधिक आयु के नहीं थे। क्योंकि विश्वामित्र को देते समय राम-लक्ष्मण के लिये तुलसीदास ने 'परमकिशोरा' विशेषण प्रयुक्त किया है; अर्थात १४ से १६ वर्ष की आयु रही होगी।

(मा०, बा० का०, दो० २०८ चौ० ३)

क्या कैकेयी का परम वैदुष्य एवं रणकौशल इतना बौना था कि वह १४ वर्ष का वनवास माँगकर ३२-३४ वर्ष के राम (सभी प्रकार से अनुभव एवं सामर्थ्य से परिपूर्ण) को वापस आने (मा०, लं० का०, दो० ६०२ व चौ० ६) तथा राज्य सुख में लिप्त भरत को कान पकड़कर गद्दी से खींच लेने का अवसर देती? वस्तुतः कैकेयी के लिये भरत व राम दोनों ही समान थे।

(मा०, अ० का०, दो० १३ चौ० ४, दोहा १४ चौ० ३ वा)

फिर राम को इसी दृष्टि से विधिवत दीक्षित किया गया था। तथा राम के ही वनवास से गृह निष्कासन का आडम्बर सत्य प्रतीत हो सकता था तथा गोपनीयता बनाये रखने की सुविधा होती इसीलिए पर्याप्त विचार-मन्थन के बाद समयबद्ध कार्यक्रम की रूपरेखा आँकी गई व १४ वर्ष की अवधि पर्याप्त होगी यह समझा गया। कैकेयी का राम के प्रति अपार स्नेह व विश्वास था।

भरद्वाज आश्रम में राम को मार्ग दिखाने की शिष्यों की उत्सुकता तथा तदर्थ बलिदान हो जाने तक की सिद्धता इस बात का संकेत है कि राम किस हेतु निकले हैं यह शिष्यों तक प्रसरित हो चुका था। अन्यथा राम के पौरुष सम्बन्धी मात्र दो घटनाएँ (१—विश्वामित्र के निर्देशन में ताड़का-सुबाहु आदि का निवारण व २—पिनाकभंग) शिष्यों को इतना प्रभावित न कर पाती।

(मा०, अ० का०, दो० १०८ चौ० २ व ३)

अनन्तर अगस्त्य से मिलकर राम का आगे निर्देश प्राप्त करना तथा सीताहरण के पूर्व ही शरभंग द्वारा अस्थियों के ढेर दिखाना तथा (मा०, अ० का०, दो० १२, चौ० १, २) राम का 'निशिचर हीन करहु महि' का प्रण करना आदि सभी आसुरी शक्तियों को पराभूत करने की पूर्व योजना का स्पष्ट आभास कराता है इसीलिये सूपर्नखा के नाक-कान काटकर खरदूषण आदि को (मा०, अ० का०, दो० ७ चौ० २, दो ७ चौ० ३ दो० ९) ललकारने की मात्र प्रक्रिया है यह समझा जा सकता है। एक तरह से यह समस्त आसुरी शक्तियों से टकराने की सिद्धता सूचित करती है तथा साथ ही रावण के लिए भी प्रकारान्तर से यह ललकार थी। सीताहरण से पूर्व ही जटायु मिलन भी विशिष्ट इंगित करने वाली घटना है जो राम का जन-जातियों (मा०, अ० का०, दो० १३) के संगठन के साथ एकरस होने की स्थिति की सूचक है। प्रत्युत्तर में सीताहरण राम को संत्रस्त करने, भावनागत धरातल पर पीड़ित करने तथा उत्तेजना में समयपूर्व भिड़ जाने के लिए उसकाने की प्रक्रिया मात्र है; अन्यथा सीता के निष्कलंक रह जाने की सम्भावना निश्चित ही असम्भव होती है।

बालीवध प्रसंग भी एक विशिष्ट घटना है। कहते हैं कि इतिहास स्वयं को दोहराता है। शायद पुरु व चन्द्रगुप्त के समय इतिहास ने स्वयं को पुनरावृत्त किया तभी तो पुरु की महत्वाकांक्षा ने विजय के पश्चात् भी उसमें भारतीय अस्मिता को गिरवी रखने की इच्छा जगाई जिसका निस्तारण विषकन्या के माध्यम से सम्पन्न करवाना पड़ा। राम ने भी शायद इसीलिये महाबली बाली का वध व्याध की भाँति करना आवश्यक समझा। शायद इसलिये भी यह रूप बध का आवश्यक था क्योंकि बाली से सीधे टकराने से विजय सन्दिग्ध थी और कूटनीतिक धरातल

की यह मूर्खता भी होती। रावण मित्र राज में होने वाले इस परिवर्तन को मात्र भौतिक ईप्सा तथा भाई-भाई का राज्याधिकार सम्बन्धी झगड़ा मात्र मानकर गाफिल बना रहा तथा घर से निकाले गये राम का महत्व व हेतु न जान पाया। पूरे घटना प्रसंग में राम का राज्य के बाहर निवास करना इसी नीति की एक कड़ी था कि जिससे राम बाली द्वीपसमूह की शासन नीति में कोई दखल रख सकते हैं इसका किंचित अनुमान भी रावण न कर सका। साथ ही वहाँ के नागरिक राम के वैराग्य से प्रभावित हो राम के प्रति अधिकाधिक श्रद्धायुत होते चले गये। बाली द्वीपसमूह का शासन मात्र गृह कलह के आधार पर बाली के हाथ से सुग्रीव के पास पहुँचा यही रावण समझता रहा तथा, जावा सुमात्रा बोर्नियो आस्ट्रेलिया की सप्लाईलाइन वाला राज्य उसका मित्र राज्य ही है, यह भ्रम बना रहा। सुनिश्चित योजना के तहत ही लंका तक पुल बनता रहा और रावण इसे मित्र राज्य की गति विधि तथा वरदान मानता रहा। ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकार गिलगिट से ल्हासा होते हुए चीन तक का मार्ग पाकिस्तान व चीन दोनों ही वरदान रूप समझ रहे हैं। काश! हम इतने कुशल होते और पाकिस्तान सुग्रीव की भाँति मित्र होने के लिये परोक्षत: बाध्य होता तो शायद यही मार्ग हमें मानसरोवर कैलाश तथा सुमेरू वापस दिलवाने वाला साधन सिद्ध होता।

यद्यपि पुल बनने के पूर्व हनुमान लंका जाकर उपद्रव कर आये थे किन्तु एक तो हनुमान सुग्रीव के नामवन्त सरदार न थे, दूसरे रावण ने भी उनकी लम्बी पूंछ की कड़ियों का पता लगाकर उन्हें भस्म कर दिया था। केवल विभीषण ही कुछ काल तक इसके बाद लंका में बना रहा लेकिन विभीषण की आस्था स्पष्ट होते ही उसे भी लंका छोड़ देनी पड़ी। यह बात अलग है कि लम्बी पूँछ की कड़ियाँ नष्ट करते-करते स्वयं लंका का प्रत्येक नागरिक उत्पीड़ित हुआ और क्षुब्ध हो उठा। यही क्षोभ अन्ततः रावण का उल्लास सीमित करता रहा (मन्दोदरी, कुम्भकरण आदि का रावण को युद्ध से विरत रहने की बराबर सलाह देते रहना) तथा सोने की लंका (अत्यन्त सुखी व तृप्त लंका राज्य) जलाने वाली आग की भूमिका बन सका। प्रतीकात्मक धरातल पर यह लंका दहन है जो हनुमान की लम्बी पूंछ जलने की घटना से अनायास ही घटित हुआ। यह लम्बी पूँछ अमेरिका की C. I. A. या रूस की K. G. B. जैसी किसी कुशल गुप्तचर तंत्र का, ही प्रतीक है। इस लम्बे व सुदृढ़ शत्रु सूत्र को नष्ट करने से भी रावण परोक्षत: सन्तुष्ट बना रह सका और पुल बनने की क्रिया मात्र मित्रराज्य की मैत्री की चेष्टा ही समझता रह गया। तथा यह अनुमान भी न लगा सका कि गुप्तचर सूत्र को नष्ट करते समय सारे राज्य में किस तरह शंकाओं व अत्याचारों का वातावरण सृष्ट हो गया होगा जिसने शासनाधिकारियों के प्रति नागरिकों के स्नेह विश्वास व सम्मान भाव को ही समूल नष्ट नहीं किया वरन् उनके प्रति नागरिकों के मन में भय, क्षोभ तथा अविश्वास खड़ा कर राज्य को नींव ही खोखली कर डाली। रावण के मन में जगा आतंक शत्रु के अपार विक्रम का परिणाम है। इसीलिये पागलों की तरह बिना समझे बूझे मात्र शंकाओं के आधार पर अनेकों नागरिकों को शत्रु का हस्तक समझ कर पीड़ित करना रावण ने प्रारम्भ कर दिया है। यह विश्वास लकावासियों के मन में दृढ़ भाव से घर कर गया। सीताहरण जिस उद्देश्य से किया गया था उसमें तो रावण को सफलता नहीं ही मिली किन्तु नागरिकों के मन में रावण अन्यायी है, कदाचारी है, लम्पट है जैसा भाव उत्पन्न करने में सहायक अवश्य हो गया और भू-शत्रु के प्रति नागरिकों के मन में ममता, सहानुभूति, स्नेह, श्रद्धा तथा राम के बल के प्रति अगाध विश्वास अवश्य ही जगा गया और यही वस्तुत: लंकादहन की पूर्णता थी। ऐसी ही स्थिति में भारत में आंशिक रूप से आपतकाल में खड़ी हुई जिसका परिणाम था इन्दिराजी की घनघोर हार।

सम्पूर्ण कथाप्रसंग के परिपार्श्व में झाँकने पर कैकेयी की उदात्त राष्ट्रीयता और राजनैतिक विलक्षण सूझ-बूझ स्वयं प्रकाशित हो उठती है और कैकेयी के महत्तम त्याग के अनुपम धरातल की दिव्यता प्रभासित होती है। साथ ही जीवन भर सामान्य जनजीवन की लांछना सहन करते हुए राष्ट्रहित व मानवहित में अपार तप की पराकाष्ठा प्रकट करती है कि मानवबुद्धि चकित हुए बिना नहीं रह सकती। अत: कैकेयी निश्चय ही एक दिव्य चरित्र है जिसने राष्ट्र एवं मानव कल्याण के लिये अब तक ज्ञात सर्वाधिक उपयुक्त एवं दुस्तर मार्ग को आक्रमित किया है। ●

आचार्य गिरिवर के कुछ शोध ग्रंथ

राजकीय तुलसी साहित्य शोध केन्द्र, श्री तुलसी स्मारक भवन, अयोध्या, फैजाबाद के प्रबन्धक आचार्य गिरिवर ने अपने कुछ शोधग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) पावन पुरी अयोध्या दर्शन—पृ० संख्या लगभग ४५०। इस शोधपूर्ण ग्रंथ में अयोध्या का इतिहास है, जिसमें आचार्य जी ने अति प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के इतिहास का समावेश किया है। उन्होंने वर्तमान अयोध्या नगरी के विभिन्न क्षेत्रों पर और उनकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है। कई स्थानों पर साधारण खुदाई करके भी यहाँ के विषय में जानने का प्रयास किया है।

(२) पद्मा—यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जो लगभग २५० पृष्ठों में है। इसमें अवध के नरेश सुहेलदेव की पुत्री पद्मा का चरित्र-चित्रण किया गया है। प्रसंगवश इसी समय सैयद सालार मसऊद गाजी ने भी अवध पर आक्रमण किया। जिसमें पहली बार उसको पराजित करके सुहेलदेव ने कृपापूर्वक मुक्त कर दिया था। दूसरी बार उसके आक्रमण करने पर उसका बध कर दिया गया। इस कार्य में पद्मा ने वीरतापूर्ण कार्य किए। जिसकी कथा इसमें वर्णित है।

(३) गदर क्यों?—पृ० संख्या लगभग ५००। इस पुस्तक में आचार्य गिरिवर ने १८५७ के भारतीय क्रान्ति के समय का विशद् वर्णन किया है। विभिन्न क्षेत्रों के किन-किन रियासतों के किन-किन नरेशों और जमींदारों ने इस जनक्रान्ति में भाग लिया था, इसकी महत्त्वपूर्ण जानकारी आचार्य गिरिवर ने इस ग्रंथ में दी गई है।

इसके अतिरिक्त आचार्य गिरिवर के अब तक १८ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और इन तीन ग्रंथों सहित २३ ग्रंथ प्रकाशन की राह देख रहे हैं।

भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश

स्मारिका

१९८२

के

प्रकाशन में सहायता देनेवाले महानुभावों को

हम

कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते हैं

१.	मे० जनरल इन्जीनियरिंग क०, मनीराम बगिया, कानपुर	२५१)
२.	मे० दौलत राम मोहन दास, सब्जी मण्डी, कानपुर	२५१)
३.	श्री हीरालाल चावला, मनीराम बगिया, कानपुर	१०१)
४.	श्री सूरज प्रकाश, द्वारा मे० विजय मेटल वर्क्स, कानपुर	१५१)
५.	मे० गैस एण्ड मेटल आपरेटर्स, फज़लगंज, कानपुर	२५१)
६.	श्री राजेश्वरप्रसाद अवस्थी, शारदा नगर, कानपुर	१०१)
७.	श्री गोपी श्याम निगम, एडवोकेट, हर्ष नगर, कानपुर	१०१)
८.	प्राध्यापक श्री ज्ञानचन्द्र अग्रवाल, आजाद-नगर, कानपुर	२०१)
९.	श्री चन्द्रभूषण गुप्ता, बिरहाना रोड, कानपुर	१०१)
१०.	श्री सत्यनारायण, द्वारा शिवम् प्रकाशन, जद्दू मण्डी, वाराणसी	१००)
११.	श्री कन्हैयालाल गुप्त, लंका, वाराणसी	१५१)
१२.	श्री कृष्णकिशोर मेहरा, वाराणसी द्वारा संग्रहीत	९८०)
१३.	श्री जगदीश सिंह	२१)

With Compliments

Steel Mechanical Erectors

(CONTRACTORS & ORDER SUPPLIERS)

QR. No. 8/111/177, OBRA 231 219

दूरभाष : ७२३

सरस्वती शिशु मन्दिर प्रकाशन

७५८, कृष्णगंगा, लाल दरवाजा, मथुरा (उ. प्र.)

वस्तु भण्डार मूल्य सूची १९८२–८३

क्र०	पुस्तक	विवरण	कक्षा	मूल्य
१.	संस्कृत सोपान	भाग १	(कक्षा द्वितीय)	१.५०
२.	संस्कृत सोपान	भाग २	(कक्षा तृतीय)	१.५०
३.	संस्कृत सोपान	भाग ३	(कक्षा चतुर्थ)	१.५०
४.	संस्कृत सोपान	भाग ४	(कक्षा पंचम)	१.५०
५.	आंग्ल भाषा प्रवेशिका		(कक्षा द्वितीय)	३.२५
६.	आंग्ल भाषा बोध	भाग १	(कक्षा तृतीय)	२.००
७.	आंग्ल भाषा बोध	भाग २	(कक्षा चतुर्थ)	२.००
८.	आंग्ल भाषा बोध	भाग ३	(कक्षा पंचम)	२.००
९.	अक्षर ज्ञान		(कक्षा शिशु)	४.००
१०.	गौरव गाथा		(कक्षा चतुर्थ)	४.००
११.	इतिहास गा रहा है		(कक्षा पंचम)	४.००
१२.	आचार्य शिष्य संवाद		(कक्षा पंचम)	४.००
१३.	वन्दना		(कक्षा तृतीय, चतुर्थ, पंचम)	१.००
१४.	गणित ज्ञान	भाग १	(कक्षा तृतीय)	५.००
१५.	गणित ज्ञान	भाग २	(कक्षा चतुर्थ)	५.००
१६.	गणित ज्ञान	भाग ३	(कक्षा पंचम)	५.००
१७.	रामायण की कथायें		(कक्षा द्वितीय)	३.२५
१८.	महाभारत की कथायें		(कक्षा तृतीय)	३.२५
१९.	सुलेख अभ्यास पुस्तिका	भाग १	(कक्षा चतुर्थ)	२.००
२०.	सुलेख अभ्यास पुस्तिका	भाग २	(कक्षा पंचम)	२.००
२१.	पाठ्य क्रम			१.००
२२.	अर्चना स्मारिका		(पुरानी)	२.००
२३.	विद्या भारती स्मारिका			४.००
२४.	गणित बोध		(कक्षा द्वितीय)	३.२५

नियमावली :—

१. ५०) रु० से अधिक की पुस्तकों पर २०% वर्तन दिया जायेगा ।
२. आर्डर के साथ १५% धन अग्रिम आना आवश्यक है । शेष धन वी. पी. या बैंक द्वारा लिया जायेगा ।
३. राष्ट्रीयकृत बैंक से ही आप बिल्टी मँगायें उसका नाम, पता अवश्य लिखें ।
४. रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें । बिल्टी वापिस आने पर सम्पूर्ण खर्च पार्टी को देना होगा ।
५. डाक से माल मँगाने पर डाक व्यय खरीदने वाले को ही देना होगा । V. P. P. से केवल ४ कि० ग्राम तक
ही माल भेजा जा सकेगा ।
६. बिल्टी खोने पर १५) रु० अग्रिम आने पर ही बौन्ड बनवाकर भेजा जायेगा ।
७. रेलवे से माल न पहुँचने पर पार्टी को ही क्लेम करना होगा ।
८. ट्रान्सपोर्ट से माल मँगाने वाले को बिल का पूरा धन अग्रिम भेजना होगा । सामान उधार नहीं दिया जायेगा ।
बिका हुआ माल वापिस न होगा ।

फोन - ६२१२५ पी. पी.

आलोक प्रकाशन

ज्ञानवापी - वाराणसी

राजनियुक्त प्रकाशक

हमारे प्रमुख प्रकाशन

- आलोक वर्ण भारती
- आलोक बाल भारती
- आलोक हिन्दी भाषा भारती
- Alliance A. B. C.
- Alliance Word Book
- Alliance English Reader I
- Alliance English Reader II
- Alliance English Reader III
- Alliance English Reader IV
- Alliance English Reader V
- Mohan English Primer (Anglo-Hindi)
- Alliance Table Book
- खेल खेल में गणित (नर्सरी के लिए)
- आलोक बाल अंकगणित भाग-१
- आलोक बाल इतिहास भाग-१
- आलोक बाल इतिहास भाग-२
- आलोक बाल भूगोल भाग-१
- आलोक बाल भूगोल भाग-२
- आलोक बाल विज्ञान भाग-१
- आलोक बाल विज्ञान भाग-२
- आलोक अंक प्रकाश (हिन्दी पहाड़ा)
- आलोक प्रारम्भिक हिन्दी व्याकरण
- संस्कृत भारती प्राइमर
- संस्कृत भारती भाग-१
- संस्कृत भारती भाग-२
- संस्कृत भारती भाग-३
- संस्कृत भारती भाग-४
- Little Nursery Drawing I
- Little Nursery Drawing II
- Little Drawing Copy I
- Little Drawing Copy II
- Little Drawing Copy III
- Little Drawing Copy IV
- Little Drawing Copy V
- आधुनिक गृह विज्ञान एवं परिचर्या भाग-१
- आधुनिक गृह विज्ञान एवं परिचर्या भाग-२
- आधुनिक गृह विज्ञान एवं परिचर्या भाग-३

हमारे रहन सहन, खान पान अलग हो सकते है
हमारी पूजा और रीति रिवाज भी अलग हो सकते हैं
परन्तु
हमारे पूर्वज व हमारी परम्परायें एक ही हैं ।

भारतीय इतिहास संकलन समिति द्वारा उसी गौरवमयी परम्परा का ज्ञान कराने का प्रयास अभिनन्दनीय है ।

बृजमोहन
महामंत्री

उ० प्र० सचिवालय हिन्दी परिषद

विधान भवन, लखनऊ

With best compliments from :

RAM SURYA RAO CONTRACTOR

FOR

FABRICATIONS & HEAVY ERECTION

Branch : **G.I.F. VEHICLE FACTORY**

JABALPUR (M.P.)

Undertakes all kinds of Boiler Maintenance and Erection Works
Including High Pressured Parts

Q. No. 8|III|177, OBRA COLONY, OBRA

शुभकामनाओं सहित

राज किशोर सिंह

सिविल एवं मैकेनिकल कान्ट्रैक्टर

गम्मों गेट

ओबरा

मिर्जापुर

शुभकामनाओं सहित

हृदय नारायण सिंह कान्ट्रैक्टर

सिविल कान्स्ट्रक्शन वर्क्स

एवं

जनरल सिविल गुड्स के विशेषज्ञ

तथा

लेबर सप्लायर्स

चोपन रोड : ओबरा-मिर्जापुर

सौजन्य लायन एच० एन० सिंह

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।

रामस्वरूप ज्वैलर्स

सोने व चाँदी के आकर्षक
आभूषणों
एवं रत्नों के
सम्राट
तथा विक्रेता
राम स्वरूप
ज्वैलर्स
(मैन्युफैक्चरिंग ज्वैलर्स)
बानवाली गली. चौक, लखनऊ —3

• एक माल • एक ध्येय • उचित दाम • ग्राहक की संतुष्टी
आर्डर का माल समय से तैय्यार कर दिया जाता है

कार्यवाही

इतिहास दिवस

भारतीय इतिहास संकलन समिति

कार्यवाही

संयोजक का प्रतिवेदन

दिनांक ३ अगस्त १९८२ को प्रात;काल ९ बजे प्रो० अभिनव सत्यदेव (संयोजक, बोर्ड आफ स्टडीज, प्राचीन इतिहास, अवध विश्वविद्यालय) की अध्यक्षता में 'ऐतिहासिक तथ्य संकलन सम्बन्धी प्रश्नावली' पर विचारार्थ प्रथम सत्र प्रारम्भ हुआ। सत्र का संचालन अवध विश्वविद्यालय इतिहास संकलन समिति के संयोजक एवं साकेत महाविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक डॉ० बाँके बिहारी मणि कर रहे थे। सर्वप्रथम संयोजक डॉ देवी प्रसाद सिंह ने प्रश्नावली के प्रारूप को समझाया और कहा कि हमें कलियुग के प्रारभ से लेकर १९५२ तक के तथ्य संकलित करने हैं। इसके लिए विचार गोष्ठियों के माध्यम से प्रकाशित तथ्यों का और सघन सर्वेक्षण द्वारा अप्रकाशित तथ्यों का संकलन करना है। ज्ञात से अज्ञात की ओर चलने में सुविधा होगी इसीलिए सबसे पहले १९३७ से लेकर १९५० तक का इतिहास तैयार करने पर जोर दिया जा रहा है। किन्तु तथ्य संकलित करने में इस बात पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि आदि काल से लेकर १९५० तक के सभी पक्षों से सम्बन्धित तथ्य संकलित किए जांय। उपस्थित लोगों ने सुझाव दिया कि तथ्य संकलन को काल में न बाँधकर सबसे पहले अति प्रचीन काल से अत्याधुनिक काल तक की समस्त सामग्री निरपेक्षित भावसे संकलित की जाय तथा बाद में जिसको वर्गीकृत किया जाय।

प्रश्नानुसार विचार विमर्श हुआ। डा० राधिका प्रसाद त्रिपाठी, डा० जगदीश सहाय, प्रो० आर० के० श्रीवास्तव आदि ने सुझाव दिया कि प्रश्नावली इस प्रकार से बनायी जाय कि ऐतिहासिक महत्व के भवनों, स्थानों, परम्पराओं, उपलब्ध अभिलेखों, मुद्राओं, लोकगीतों, जनश्रुतियों आदि सबके द्वारा इतिहास पर पढ़ने वाले प्रकाश को महत्व मिले। डा० सहाय का कहना था कि सुभाषचन्द्र बोस एवं अन्य राष्ट्रीय नेताओं तथा क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में सम्पन्न हुए स्वतन्त्रता आन्दोलन में ग्रामीणों के योगदान को भी संकलित किया जाए। डॉ० वाकणकर ने इसी विषय पर हुई दूसरी गोष्ठी में सुझाव दिया कि बड़े २ नेताओं के पत्रों की फोटोकापी प्राप्त की जा सके तो उत्तम होगा। यह बात भी कही गयी कि भौगोलिक स्थिति और शैक्षिक पर्यावरण की जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रश्न बढ़ा दिए जाएं। संयोजक डॉ० देवी प्रसाद सिंह ने सभी सुझाओं का समादर करते हुए प्रतिनिधियों को आश्वस्त किया कि प्रश्नावली में उनके सुझाओं को जोड़ा जाएगा। कार्य क्रम का संचालन कर रहे डॉ० बाँके बिहारी मणि ने सबके प्रति आभार व्यक्त किया।

सायंकाल ५ बजे डॉ० वी० एस० वाकणकर (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन) की अध्यक्षता में औपचारिक उद्घाटन कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। उद्घाटन कार्यक्रम का संचालन अवध विश्व विद्यालय इतिहास संकलन समिति के संयोजक डॉ० बाँके बिहारी मणि ने किया। प्रारम्भ में कार्यक्रम आयोजन समिति तथा के० एस० साकेत महाविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० आर० के० श्रीवास्तव ने स्वागत भाषण पढ़ा। डॉ० देवी प्रसाद सिंह ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में इतिहास संकलन सम्बन्धी गति विधियों पर प्रकाश डाला। संकलन समिति के अखिल भारतीय निदेशक

श्री मोरोपंत पिंगले ने विस्तार से योजना पर प्रकाश डालते हुए सभी इतिहासज्ञों एवं इतिहास प्रेमियों से इस महत्वपूर्ण कार्य में सहयोग के लिए अपील किया । श्री पिंगले जी का सम्बोधन इन पृष्ठों में अन्यत्र मुद्रित है ।

अपने उद्घाटन भाषण में अवध विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० ए० पी० मेहरोत्रा ने इतिहास संकलन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अगला अधिवेशन अवध विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में करने का आह्वान किया जिसका स्वागत उपस्थित जनसमूह ने करतल ध्वनि से किया । उन्होने कहा कि विज्ञान का विद्यार्थी होते हुए भी इतिहास के प्रति मेरी गहरी अभिरूचि रही है क्योंकि इतिहास की राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

अन्त में अध्यक्षीय भाषण करते हुए प्रों० बि० श्री० वाकणकर ने इतिहास की कतिपय विसंगतियों की ओर विद्वतजनों का ध्यान आकृष्ट किया । उनका भाषण इतना प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी था कि सम्पूर्ण श्रोता समूह मन्त्रमुग्ध हो गया । यह इन पृष्ठों में अन्यत्र मुद्रित है । अन्त में कार्यक्रम के आयोजन समिति के अध्यक्ष प्रो० आर० के० श्रीवास्तव ने सबके प्रति आभार व्यक्त किया । प्रो० श्रीवास्तव ने फैजाबाद के पत्रकार बंधुओं, साकेत महाविद्यालय के सचिव व प्राचार्य, अनिल विद्या मन्दिर के प्रधानाचार्य श्री वंशराज शुक्ल, एवं अवध विश्वविद्यालय के बुद्धि जीवियों तथा प्रदेश के कोने-कोने से आए प्रतिनिधियों के प्रति बिशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित की ।

दूसरे दिन, दिनांक ४ अगस्त १९८२ को प्रातः ९ बजे से डॉ० विशुद्धानन्द पाठक (उपाचार्य, प्राचीन इतिहास विभाग) काशी हिन्दू बिश्वबिद्यालय की अध्यक्षता में 'अयोध्या-फैजाबाद' के इतिहास पर विचार गोष्ठी प्रारम्भ हुई । इस विषय पर अनेक बिद्वानों ने शोध-पत्र पढ़े, जिनमें डॉ० टी० पी० वर्मा, डॉ० देव सहाय त्रिवेद, डॉ० राम अवध, डॉ० जनार्दन उपाध्याय, डॉ० सहस्र बुद्धे, श्री वेद प्रकाश मिश्र, डॉ० ईश्वर शरण विश्वकर्मा, श्री कौशल किशोर, श्री वीर सिंह आदि प्रमुख थे ।

सायंकाल दो बजे डॉ० बी० एन० पुरी, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, की अध्यक्षता में दूसरी विचार गोष्ठी प्रारम्भ हुई, जिसमें डॉ० के० चौधरी, डॉ० नर्मदा प्रसाद मिश्र, श्री गुलाब सिंह परिहार, श्री ऋषिराम त्रिपाठी, डॉ० ओम प्रकाश सिंह, आचार्य गिरिवर, डॉ० विजयकुमार पांडेय आदि विद्वानों ने अन्यान्य विषयों पर अपने शोध पत्र पढ़े । डॉ० पुरी ने विषय का समारोप करते हुए इतिहास संकलन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए सभी लोगों से भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की पुर्नरचना में सहयोग देने का अनुरोध किया ।

अन्त में श्री कैलाश नाथ श्रीवास्तव, सचिव, साकेत महाबिद्यालय, ने समारोप करते हुए आए हुए प्रतिनिधियों के प्रति आभार व्यक्त किया और भविष्य में भी इस प्रकार के आयोजन करने पर बल प्रदान किया । उन्होंने प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री आर० के० श्रीवास्तव द्वारा इस कार्यक्रम में किए गए योगदान की सराहना की ।

संयोजक डॉ० देवी प्रसाद सिंह ने कार्यक्रम की रचना व्यवस्था और सफलता के लिए दिए गए सहयोग के लिए श्री आर० के० श्रीवास्तव, डॉ० बाँके बिहारी मणि, श्री वंशराज शुक्ल, श्री लल्लू सिंह, श्री अभिनव सत्यदेव एवं साकेत कालेज के प्राचीन इतिहास विभाग के सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त किया ।

डॉ० देवी प्रसाद सिंह
संयोजक

WELCOME ADDRESS

Respected Mr. Vice-Chancellor, Avadh University, Dr. A. P. Mehrotra, Learned Shri Moropant Pingaly, Director of the Bhartiya Itihasa Sankalana Samiti, Nagpur, Padmashri Dr. V. S. Vakankar, Vikrama University, Ujjain, distinguished delegates and visitors, ladies and gentlemen.

Let me extend our heartiest welcome to you all who have come to attend this conference. I must say, to play the host of a meet together of the country's first rank historians and eminent scholars of allied disciplines is certainly an experience by itself for the staff and students of my college, K. S. Saket Post-Graduate College, Faizabad. In this connection I would like to draw your attention to the fact that the twin cities of Ayodhya and Faizabad have a hoary past. Ayodhya is a place of great antiquity. In addition to its historical importance it has had great religious and cultural significance. Faizabad as the word emplies, 'city of beneficence or bountifulness' was the capital of the Nawabs of Avadh. Faizabad still continues to be a centre of Muslim culture also. The process of contact, assimilation and synthesis of Hindu and Muslim cultures can still be seen in the architecture of important temples and buildings of these two places. In view of the pristine grandeur and rich cultural heritage of this place it is in the fitness of things that the Bhartiya Itihasa Sankalana Samiti has chosen to hold its Conference here at Faizabad. I am sure that this Sankalana Samiti will attain an enviable success in introducing a new angle of historical investigation, at once constructive and free from prejudices, which would open some new doors hither to remaining bolted azar for obvious reasons. It is not for nothing that occasional complaints are heard, history is verily a coquette with her cap cocked at the victors. It has taken time even after the political independence of the country to get the spirit of the Indian history liberated from the mental hangover of the past two centuries. It is precisely here that your Samiti can render a splendid service by introducing the new angle I have mentioned.

It is a matter of gratification for us that in the business sessions to follow in the Conference we will devote considerable time to discuss the various problems around the themes, history of Ayodhya, Faizabad and history of Uttar Pradesh. I feel that there could have been no better choice of a subject for discussion in the agenda. Perhaps it would not be an over statement if I call this gesture of the Samiti as an act of magnanimity by itself. The whole panorama of the region's history is yet to come before the full flood of light. There are numerous make-shift sketches to be painted with a surer brush and brighter hues besides many more missing links await some imaginative reconstruction. Of course, a small band of devoted scholars in the past have left a rich legacy of their pioneering works in different fields of the history of Uttar Pradesh. History of Ayodhya and Avadh has also attracted the attention of the scholars. However, on good authorities, the whole thing presents a spectacle of 'petty done and undone vast'. It is in the fitness of things that the Conference would concentrate upon the clues rather than the fact. I hope the discussions here would hand over to our young scholars the much wanted bunch of key to unlock the doors of mystry as also the right method of interpreting the facts as they are. I believe that man's dreams of the future are possible only on the corals of the past.

I have taxed heavily upon your valuable time by spinning some needless yarns. If have made some mistakes, I crave the indulgence of your liberal mind.

Lastly, we must express our anxiety for many possible shortcomings with regard to your comfort. We hope, you will appreciate our inadequacies of physical facilities and draw without any reservation from our big fund of goodwill. Let me wish your stay here in the birth place of Rama to be comfortable, fruitful and enlightening.

With thanks to you all.

R. K. Srivastava
Reader & Head of the Dept. of
Ancient History
K. S. Saket Post-Graduate College
FAIZABAD

3rd Aug. 1982.

मा० मोरोपन्त पिंगले का उद्‌बोधन

सम्मान्य अध्यक्ष महोदय, कुलपति जी, अन्य उपस्थित कार्यकर्त्ता एवं बन्धुगण,

अभी उत्तर प्रदेश के संयोजक ने आप के सामने एक कल्पना रखी । हमें इसी को थोड़ा विस्तृत रूप से आपके सामने रखने को कहा गया है । आप सब लोग यह जानते हैं कि इतिहास संकलन का यह जो प्रयास चल रहा है, वह बाबा साहेब आप्टे स्मारक समिति के तत्वावधान में है । वे अन्य अनेक विषयों के विद्वान रहें हैं । विशेष रूप से संस्कृत भाषा में बात–चीत यह उनकी इच्छा थी । इतिहास के संकलन का विषय भी विशेष रूप से उनके मन में रहा । उन्होंने अपने जीवनकाल में बहुत से लोगों से बात करके इस बिषय में विशेष प्रयास किया । लेकिन दुर्भाग्य से उनके जीवन काल में इस प्रयास को कोई विशेष दिशा नहीं दी जा सकी और इसीलिए उनकी स्मृति में जो समिति बनी उसने यह भी एक काम उठाया कि जिन बातों के बारे मे उनकी रूचि थी उनको आगे बढ़ाया जाय । बातें तो उनकी अनेक थीं लेकिन जो अपने कार्यक्रम से सम्बन्धित हैं वह इतिहास के संकलन का बिषय है । इस विषय में उन्होंने सोचा था और जो कमी उनको लगती थी उसके सम्बन्ध में लोगों के सामने अपने विचार रखने का वे प्रयास करते थे । वैसे तो इतिहास, विशेष रूप से भारत का इतिहास जैसा कि हम लोगों के सामने आता है, जिस प्रकार वह पढ़ाया जाता है, जिस प्रकार उसका संकलन हुआ है और जैसे उसको प्रस्तुत किया गया है, उसमें कुछ कमी है, ऐसा कहने वाले और सोचने वाले अनेक लोग यहाँ पर हैं । स्वतन्त्रता के बाद भी यद्यपि इस दिशा में बहुत प्रयास हुआ है फिर भी सही दिशा में जिस प्रकार से प्रयत्न होना चाहिए उसका अभाव ही रहा है । बाकी सारी बातों को अगर हम छोड़ भी दें तो भी भारत के इतिहास के विषय में दो बातें विशेष रूप से देखने में आती हैं । उनमें से पहली बात जो वह कहते थे वह यह है कि कहने के लिए हम कहते है 'भारत का इतिहास' लेकिन सम्पूर्ण भारत के सर्वांगीण जीवन का एक साथ चित्र उपस्थित करने वाले इतिहास का अभाव उनको सदैव खटकता रहा । यानि अखिल भारतीय स्तर पर इतिहास के चित्र बहुत प्रकाशित हुए लेकिन उसमें हर समय ऐसा दिखाई देता है कि जिस समय की बात लिखी जा रही है उस समय की जो सबसे प्रभावी चीज रही होगी या जो सबसे प्रभावी राज्य रहा होगा उसका तो वर्णन उसमें किया जाता हैं लेकिन और जो प्रदेश रहें है उनमें उस समय क्या स्थिति रही होगी ? इसका चित्र सामने नहीं आता । यदि हमें उसको देखना है तो कुछ और जानना पड़ेगा, कुछ और खोजना पड़ेगा तभी हम एसा चित्र उपस्थित कर सकेंगे । लेकिन जबतक सम्पूर्ण भारत का चित्र हमारे सामने नही आता तबतक इतिहास से जो सीखना है, जो सबक लेना है, हमसे जो गलतियाँ हुई हैं अथवा हमने जो ठीक काम किए हैं, इन सबका आगे बढ़ते समय हमें ध्यान रखना पड़ेगा । इतिहास से जो सीखने की बात है वह तब तक असम्भव है जब तक सम्पूर्ण भारत का किसी समय का चित्र हमारे सामने उपस्थित न हो । इसलिए सम्पूर्ण देश का एक समग्र चित्र उपस्थित किया जाय, यह उनके मन की एक बात थी ।

दूसरी बात जो भारत के इतिहास के सम्बन्ध में हम लोगों के ध्यान में आती है वह है कालानुक्रम की बात । जिस प्रकार से आज काल खण्डों का बिभाजन, संवतों की कल्पना की गयी है उससे यह अनुभव आता है कि जो पद्धति परम्परा से हमारे पास आयी थी उससे हम विचलित हो गये है । इस पर जब हम विचार करते है तो दो प्रकार की बातें सामने आतीं हैं ।

जब हम अपने देश का परम्परागत इतिहास देखते हैं तो उसमें और जो इतिहास हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता हैं, जो हमें सिखाया जाता है उसमें कालक्रम का बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है । जो हमारी परम्परागत अवधारणाएँ है उनको यदि हम स्वीकृत करके चलते हैं तो फिर उन्हे सिद्ध करने के लिए तथ्य जुटाने पड़ेगे या फिर कहीं हमसे गलती हुई हो तो

उस पर विचार करना पड़ेगा। और इसीलिए अपने देश के इतिहास को एक योग्य कालानुक्रम दिया जाय, इसकी आवश्यकता हमें प्रतीत होती है। इसके लिए हमें दो दिशाओं से प्रयत्न करना पड़ेगा। एक तो हमें सम्पूर्ण भारत का चित्र उपस्थित करने का प्रयास करना होगा और दूसरे कालक्रम के अनुसार योजनाबद्ध ढ़ंग से इसको प्रस्तुत करना होगा।

जब ये बातें पहली बार स्मारक समिति में आयीं तो ऐसा लगा कि यह तो बहुत सरल काम है। इसमें क्या है ? सब लोगों से मिलेंगे, उनसे सारी बाते बतायेगें, और सबके सहयोग से सहज रीति से सारी बाते एकत्र कर लेगें। लेकिन जैसे-जैसे इसके जानकार लोगों से बात होने लगी तब यह ध्यान में आया कि यह जितना सरल लगता था, वास्तव में उतना सरल कार्य नहीं है।

इसमें अनेक प्रकार के प्रश्न है और समस्यायें है। जो इन बातों को समझते हैं वे बड़े-बढ़े इतिहासज्ञ हैं जिन्होंने इस शास्त्र का बड़ा अध्ययन किया है। बाबा साहब आप्टे कहते थे, इसलिए उनकी स्मृति में बनी समिति की ओर से यह बात उठाई गयी। और यह काम होने वाला है शास्त्र के जानकारों के आधार पर ही। इसलिए जब उन लोगों से सम्पर्क किया गया तो उन्होंने कई प्रश्न पूछे। अनेक लोगों से चर्चाएं हुई और धीरे-धीरे एक चित्र उभर कर सामने आया और फिर उससे यह योजना बनी। इसमें जो काम करना है उसमें दो-चार व्यक्तियों या दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास जैसे प्रमुख स्थानों पर विद्वान लोग बैठ जाँय और वह कुछ लिखें, इतने से ही यह कल्पना पूरी नही होगी। यह तो आज भी चल रहा है और यदि यह उतने तक ही सीमित रहा तो इस प्रकार का चित्र सामने नहीं आयेगा। इसके लिए अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त करना पड़ेगा। अगर पूरा चिच सामने रखना है तो किसी एक स्थान पर बैठ कर आज जो उपलब्ध है, उन पुस्तकों को पढ़ लिया या जो साधन हैं उसी के आधार पर कुछ कह दिया तो इससे पूरा काम नही बनेगा। यह तो बहुत मर्यादित सीमा तक ही जायेगा। अगर इसे व्यापक रुप देना है तो इसमें हर स्थान के लोगों को सम्मिलित करना पड़ेगा और इसीलिए फिर यह विचार आया कि एक-एक जिले के स्तर पर इस प्रकार का प्रयास किया जाय। एक-एक जिले के व्यक्तियों को एक-एक विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय को भारत का सम्पूर्ण चित्र बनाने के लिए सहभागी बनाया जाय। गाँवों के, देहातों के लोगों से सहयोग प्राप्त किया जाय। वहाँ जो परस्थितियाँ हैं उनको जानने वाले सब चीजों को समझने वाले ऐसे कार्यकर्त्ता यदि मिलें तभी यह काम सम्भव है। और इसलिए प्रयास यह किया गया कि इस काम में ऐसे लोगों का संगठन किया जाय जो इस विषय के जानकार भी हों और वहाँ की स्थानीय परिस्थितियों को समझते भी हों, तभी काम आगे बढ़ सकेगा और इसीलिए यह प्रयास हुआ कि विभिन्न प्रान्तों में जाकर विश्वविद्यालयों के आधार पर और जिलों के लिए कार्यकर्त्ता निकाले जायें और उनके सामने सारी योजना रख दी जाय।

दूसरी बात कालक्रम की सामने आयो। उसमें यह ध्यान में आया कि साधारण दृष्टि से आज कालक्रम की गणना का आधार ईसा पूर्व और ईस्वी सन् में की जाती है। इसके अतिरिक्त विक्रम की काल गणना है, शालिवाहन की कालगणना है। अखिल भारतीय स्तर पर चलने वाली ये तीन कालगणनाएं हैं। इन कालगणनाओं के प्रारम्भ होने से भी पहले अपने देश का इतिहास काफी दूर तक पहुँचता है। तो प्रश्न यह उठता है कि उन दिनों में भारतीय लोग कालगणना किस प्रकार करते थे। यह स्पष्ट है कि ये जितनी भी कालगणनाएं हैं वह सब किसी न किसी व्यक्ति से सम्बन्धित हैं। किसी के जन्म से, किसी के राज्यारोहण से। इस प्रकार की कालगणना में व्यक्ति से सम्बन्धित उस घटना से जोड़कर समय निश्चित करने की पद्धति जो प्रचलित है उससे भी प्रचीन और वैज्ञानिक पद्धति कोई है क्या ? इस पर विचार करने पर सौभाग्य से जो तथ्य सामने आये वह यह है कि, हम देश के प्रत्येक स्थान पर जो पंचाङ्ग बनाते हैं और उन्हीं के आधार पर अपने सब कार्य करते हैं। ऐसे सभी पंचाङ्गों में एक कालगणना का उल्लेख है। और उससे भी सौभाग्य की बात है कि इसके सम्बन्ध में सभी एक मत हैं। शायद अपने देश में बहुत सी बातों में भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई भी बात निकालो तो उसमें दस मत आ जाते हैं। लेकिन यह जो कालगणना है वह हमारे देश भर के सभी पञ्चाङ्गों में मिलतो

है। और इस दृष्टि से सभी एक मत है और इसको हम लोग युगों की कालगणना कहते हैं : कलियुग की कालगणना। आज हम सब लोग कलियुग में रहते हैं यह हम सबको मालूम है। रोज सुबह सायं कभी न कभी कलियुग का उच्चार होता ही रहता है। जिसको धार्मिक कार्यों के समय संकल्प में हमें बोलना पड़ता है।

आज हम जिस कलियुग में रहते हैं वह पांच हजार तिरासी वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। इसो दीपावली को ५०८४ वां वर्ष प्रारम्भ हो गया है। यह संवत्सर किसी व्यक्ति के जन्म मृत्यु आदि से सम्बन्धित नहीं है। वास्तव में सौर जगत् में होने वाले प्राकृतिक घटनाओं के आधार पर इस संवत्सर की सृष्टि की गयी है। यह पुरानी परम्परा के अनुसार आता है। उसमें भी इन सब बातों को आधुनिक विज्ञान और शास्त्रों के आधार पर सोचा जा सकता है लेकिन प्रारम्भ के लिए इस बात को मानकर आगे चलें। इसके लिए बाबा साहब आप्टे स्मारक समिति की ओर से कलियुग की कालगणना के अनुसार अन्य संवत्सरों के वर्षों की तालिका प्रकाशित की गयी है। जिन पुस्तकों को प्रसारित किया गया है, उनमें यह तालिका दी गयी हैं।

अब जो बात सामने आती है वह है विगत पांच हजार वर्षों का भारतवर्ष का कालानुक्रम के अनुसार इतिहास संकलित करना। एकदम से ऐसा लगता है कि यह बहुत कठिन कार्य है। इसके लिए हमने इसमें कुछ संवत्सरों के विभाग बनाये हैं। इन पांच हजार वर्षों के विभाजन के लिए जब तक कोई इकाई सुनिश्चित नहीं की जाती तब तक हमें अपने कार्य को ठीक ढंग से करने में सुविधा नहीं होगी। आजकल ऐतिहासिक घटनाओं को बताने के लिए शताब्दी की इकाई चलती है। जैसे तीसरी शताब्दी, पांचवीं शताब्दी आदि का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अपना कालगणनाओं में भी सौ वर्ष की इकाई मानी गयी है। लेकिन जिस कालगणना का हम लोग विचार कर रहे हैं उसमें साठ वर्ष की एक इकाई मानी गयी है। कालगणना यह है कि ग्रहों के जो चक्कर लगते हैं,'उसके अनुसार सौरमण्डल के ग्रह साठ वर्षों में एक बार समान युति बनाते हैं। आज जो स्थिति है, साठ साल के पहले बिल्कुल ऐसी ही स्थिति थी, और आज से साठ साल बाद भी लगभग ऐसी ही स्थिति रहेगी। इसको ध्यान में रखकर साठ वर्षों का एक संवत्सर-चक्र माना गया है। इस प्रकार गणना करने पर इस कलियुग के प्रारम्भ से अब तक साठ वर्षों के ८४ संवत्सर-चक्र पूरे हो चुके हैं। इस समय ८५ वां संवत्सर-चक्र चल रहा है। इस एक एक संवत्सर-चक्र के अनुसार सारे भारत के सर्वांगीण इतिहास का चित्र पूर्ण हो सका तो एक अच्छा काम होगा।

लेकिन यह एक बहुत बड़ा काम है। इसीलिए इस पर इधर से ही काम प्रारम्भ किया जाय। और इसकी याजना अपने कार्यकर्त्ताओं के मन में हो जिसे आपके सामने रख रहा हूँ। इस प्रकार संवत्सर-चक्रों के अनुसार सारे देश से ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित हो और सबका एक चित्र प्रस्तुत किया जा सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी अपनी जगह का काम करते रहें। लेकिन उसमें कुछ बिन्दु निश्चित हो जांय, कुछ योजना बन जाय, तभी हम एक दूसरे से योग्य प्रकार से ले सकेंगे। इसीलिए इस प्रकार की जा गोष्ठियां होती हैं, उसमें ये सारी संयुक्त बातें बतायी जाती हैं।

बाबा साहब आप्टे स्मारक समिति की ओर से दोनों प्रकार का प्रयास हो रहा है। एक ओर जो इस शास्त्र के जानकार हैं, विद्वान् लोग हैं उनका सहयोग आवश्यक है। इसीलिए इस प्रकार के सब लोगों से मिलना, प्रार्थना पूर्वक उनके पास जो जानकारी है, उसको प्राप्त करना यह अपना एक प्रयास है। लेकिन जैसा अभी अध्यक्ष महोदय ने अपने भाषण में बताया इसमें उनके अनुसार जो स्थिति दिखाई देती है, उससे यह प्रश्न उठता है कि यह किसका विषय है। आज यह धारणा व्याप्त है कि जो लोग इतिहास पढ़ते हैं या पढ़ाने वाले हैं, यह उन्हीं का विषय है। बाकी हमारा आपका, सामान्य जन समुदाय का, या सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का, इससे कोई मतलब नहीं है। लेकिन आज यह जो स्थिति है, वह ठीक नहीं है। इसीलिए हमारी समिति के कार्य का जो हमारा पहलू है

उसमें सामान्य मनुष्य को इसमें सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया है। कार्यकर्त्ता तो इसमें सम्मिलित होंगे ही। लेकिन इतिहास हमारा, आपका, सबका विषय है, इस भावना के अभाव में भी हमारे बहुत से साधन नष्ट हो गये हैं। और नष्ट हो रहे हैं। सामान्य मनुष्य को, जिसमें थोड़ी बहुत सामाजिक चेतना है, ऐसे कार्यकर्त्ताओं को सम्मिलित किया जाय। और इसलिए इस साल का जैसा यह इतिहास दिवस है, इस प्रकार के कार्यक्रम देशभर में करके लोगों को एकत्रित किया जाय। विद्वानों के वहाँ भाषण हों, उनका सम्मान किया जाय और उनके द्वारा सारे समाज को इतिहास के महत्व के सम्बन्ध में बताया जाय। इस प्रकर की अपनी योजना बनी है। जिस प्रकार 'इतिहास दिवस' यहाँ मनाया जा रहा है, उसी प्रकार देश भर में मनाये जाने की योजना बनी है। इसी क्रम में अनेक स्थानों पर ये कार्यक्रम हुए हैं। दक्षिण में भी कुछ स्थानों पर कार्यक्रम हुए हैं और अगले वर्षों इन्हें और भी स्थानों पर किया जायेगा जिसमें विद्वान भी सम्मिलित हों और सामान्य जन भी सम्मिलित हों ऐसा प्रयास किया जाय।

लेकिन सामान्य मनुष्य को इसमें प्रेरित करना कितना कठिन कार्य है यह मुझे आपको बताना जरुरी नहीं है। सामान्य मनुष्य को इसमें सम्मिलित करना एक ऐसा विचित्र अनुभव है जिसके लिए मैं एक उदाहरण दूँगा जिसे मैंने कहीं पढ़ा है। इन घटनाओं का इतिहास इससे सम्बन्धित है। ''एक व्यक्ति ने अपने भाषण में कह दिया कि साठ लाख वर्ष बाद यह पृथ्वी नष्ट हो जायेगी। बड़ा रोचक भाषण चल रहा था। श्रोता लोग बैठे सुन रहे थे। और इस प्रकार की सभा में ऊँघने वाले लोग होते हो हैं। उनमें से भो एक सोया था। जैसे उसने सुना, पृथ्वी नष्ट हो जायेगी वह जागरुक हो गया और वक्ता से पूछने लगा—क्या कहा था आपने पृथ्वी नष्ट हो जायेगी! कितने साल बाद? वे बोले—साठ लाख साल बाद। तो फिर वह बैठ गया और ऊँघने लगा। इससे वक्ता महोदय आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने कहा कि बड़ा विचित्र आदमी है। खड़ा होता है, पूछता है और फिर सो जाता है। उन्होंने उस आदमी से पूछा कि यह क्या बात है।? तो उसने कहा कि मैं तो घबड़ा गया था। मैंने सुना था, आठ लाख वर्ष बाद। फिर जब आपने साठ लाख वर्ष बाद कहा तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। और मैं फिर सोने लग गया।'' अब साठ लाख और आठ लाख में उस भले मनुष्य को क्या फर्क पड़ने वाला है? लेकिन इतिहास की ओर देखने की साधारण मनुष्य की जो दृष्टि है, उसकी ओर जब देखते हैं तब हमें मालूम पड़ता है कि सब लोगों को इसमें सम्मिलित करना कितना कठिन कार्य है। लेकिन प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। उन्हों के लिए इस कार्य को खड़ा करना है। उनको अगर इसमें सम्मिलित नहीं करेंगे तो प्रगति नहीं हो सकेगी। एक बार मैं प्रवास में मध्यप्रदेश में एक जगह गया था। एक मन्दिर में दर्शन करने के लिए गया और उसके बाद घूम-घामकर मंदिर के पास ही नदी में स्नान के लिए जाने लगा। जब सीढ़ियाँ उतर रहे थे तो सीढ़ी के एक पत्थर पर मेरी दृष्टि गयी। वर्षों से ये सीढ़ियां लगी हुई थीं जहाँ लोग स्नान के लिए जाते थे। हम जा रहे थे, वहाँ के पटेल हमारे साथ थे। सीढ़ी में लगे उस पत्थर को देख कर लगा कि शिलालेख है। मैं पढ़ नहीं सकता था, इसलिए उसमें क्या है यह नहीं जान सका, लेकिन यह तुरन्त समझ गया कि सीढ़ियों में लगा पत्थर शिलालेख है। मैं रुक गया और पटेल से पूछा, भाई! यह क्या है? तो उन्होंने कहा सीढ़ियाँ हैं। मैंने पूछा कुछ फर्क इसमें दिखाई देता है? वे बोले इसमें कुछ लिखा है। कितने ही वर्षों से ऐसे पड़ा है। मेरे इस पूछने से उसको चिन्ता हुई। मैंने कहा यह बात मुझे भी नहीं मालूम कि इसमें क्या लिखा है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि यह अन्य पत्थरों जैसा पत्थर नहीं है इसलिए इस पत्थर को निकालो और यहाँ से हटवाओ। उन्होंने कहा कि काहे को निकाल रहे हैं। आप स्नान कीजिए। मैंने कहा स्नान, भोजन नहीं करना है। पहले इसको यहाँ से हटवाना है। तब उसने लोग बुलाकर पत्थर को खुदवाकर मंदिर में स्थापित किया। उनकी समझ मे ही नहीं आया कि आखिर इस पत्थर मे क्या विशेषता है और मैं काहे के लिए परेशान हो रहा था। लेकिन वह शिलालेख था, यह उसको नहीं मालूम था। गांव के पटेल को भी शिलालेख कोई चीज होती है, उसका मूल्य होता है यह नही मालूम। हमारे गांव में हमारे पिताजी ने बहुत से ग्रन्थ संग्रह किए हैं। हमको नहीं मालूम है कि उनका मूल्य क्या है। बच्चे समझते हैं, फालतू सामान

घर में पड़ा है । कमरे बंद हैं । कोई आता है तो रद्दी के भाव बेच दिया तो बहुत हो गया । इस प्रकार की बातें हो रही हैं । इसका कारण यह है कि सामान्य मनुष्य को हमने इसमें नहीं जोड़ा । इसीलिए ये प्रयास हो रहे हैं । इसीलिए इस संकलन के बाद उसको सम्पूर्ण देश के सर्वांगीण जीवन के कालानुक्रम से संकलित किए हुए इतिहास के रूप में हम देखना चाहते हैं । धीरे धीरे यह प्रयास सफल होगा । जैसा कि अनेक लोगों का सहयोग मिल रहा है और आज भी यहाँ विश्वविद्यालय की ओर से आश्वासन दिया गया हैं कि वे भी सब प्रकार से सहभागी होंगे । इसी प्रकार से सब लोग मदद करेंगे ऐसा विश्वास है । और इसीलिए इस प्रकार का प्रयास करके एक विषय लेकर काम खड़ा हुआ है । सब लोग मिलकर कर रहे हैं । और मुझे ऐसा लगता है कि हम सफल होंगे और भी बहुत सी बातें हैं । उन पर विचार आगे होगा, लेकिन तथ्य संकलन का यह जो विषय है , वह भी हमने हाथ में लिया है । उसमें हम इसी प्रकार आगे बढ़ते रहेंगे, इसीलिए इस बात की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास मैंने किया है ।

डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर का उद्बोधन

माननीय कुलपति महोदय, पिंगले जी, स्थानीय कार्यकर्त्तागण और उपस्थित सज्जनों

बचपन से मेरे मन में यह इच्छा थी कि अयोध्या चलें। अयोध्या का बड़ा विचित्र-चित्र मेरे सामने था और उसका आधार था—रघुवंश में वर्णित निर्जन अयोध्या का वह चित्र जिसमें अयोध्या की नगर देवी वहाँ के खण्डहरों का कुश के सामने वर्णन करती है। बड़ी विशाल अट्टालिकाएं खड़ी हैं जो खण्डहरों के रूप में परिवर्तित हो रही हैं, उनकी भित्तियों पर जहाँ ऐसे चित्र बनाये गये थे कि हाथी कमल के ताल में उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें कमल के डण्ठल तोड़कर दे रही हैं। उन चित्रित हाथियों के मस्तकों को सिंहों ने सच्चे हाथी का मस्तक समझकर अपने नखों से विदीर्ण कर दिया है।[1] अट्टालिकाओं के जिन सोपान भागों पर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखते हुए चलती थीं, वहीं पर मृग को मारकर व्याघ्र अपने रक्त से सने हुए लाल पैरों को रखते हुए चलते हैं।[2] जिन स्तम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनाकर सजायी गयी थीं उन मूर्तियों का रंग उद्ध्वस्त अयोध्या में धुल गये हैं और वे नग्न दिखाई दे रही हैं। उन खण्डहरों में घूमने वाले सर्पो को इससे मानो लज्जा आई और उन स्त्रियों के स्तनों को ढँकने के लिए अपने केचुलि रूपी वस्त्र उन पर डाल गये हैं।[3] जिन वातायनों से दिन में सुन्दरियों के मुख दिखाई पड़ते थे और रात को दीपकों की किरणें निकलती थीं और जिनसे आग के धुएं निकला करते थे, अब वे मकड़ियों के जालों से ढ़क गये हैं।[4]

कल्पना कीजिए, कितना जबंदस्त contrast यह है। कालिदास स्वयं एक चित्रकार थे और इस कारण वह सारे अयोध्या के इस प्रकार के चित्र को देख सकते थे और तब मेरे मन में यह आता था कि कालिदास का काल-निर्णय करने के लिए यह प्रसंग बड़ा महत्व का है। लोग मानें या न मानें, पर इतिहासकारों में एक वर्ग ऐसा भी है जो यह मानता है कि गुप्तों के साम्राज्य की राजधानी अयोध्या ही थी, लेकिन गुप्तों के शिलालेखों में इसका वर्णन नहीं मिलता। यद्यपि लोगों की यह साधारण मान्यता रही है। लेकिन यदि यहाँ गुप्तों की राजधानी होती तो मैं नहीं समझता कि कालिदास क्यों इस उद्ध्वस्त अयोध्या का वर्णन करता। फिर तो वह उज्जैनी के अट्टालिकाओं का, वहाँ की नगर-वीथिकाओं में घूमने वाली अभिसारिकाओं का जैसा वर्णन करता है वैसा ही अयोध्या का भी वर्णन करता। लेकिन कालिदास प्रथम शताब्दी में हुआ था। गुप्तों के समय में नहीं हुआ था। उसका यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस अयोध्या का वर्णन मेरे सामने होने के कारण मैंने १९६३ में पेरिस में कालिदास के वर्णनों के आधार पर एक छोटी सी सचित्र प्रदर्शनी आयोजित की थी। उस समय मैंने इस उद्ध्वस्त अयोध्या का बहुत बड़ा चित्र बनाया था और ये सारी बातें देने का उसमें प्रयास किया था। उस अयोध्या को देखने का स्वप्न बहुत दिनों से मेरे मन में था। मैं उत्तर-प्रदेश की भारतीय इतिहास संकलन समिति का बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे यहाँ बुलाया और यह अवसर प्रदान किया।

---

१. चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघात विछिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ रघुवंश १६.१६

२. सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ रघुवंश १६.१५

३. स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्ण क्रम धूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्तिसङ्गान्निर्मोकपट्टाः मणिभिर्विमुक्ताः ॥ रघुवंश १६.१७

४. रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्न धूमप्रसराः गवाक्षाः ॥ रघुवंश १६,२०

इस अवसर पर समस्त भारतीय इतिहास को देखने का जो दृष्टिकोण है, वह कैसा होना चाहिए, इस पर विचार करना आवश्यक होगा। और इस दृष्टि से हम लोगों ने कुछ प्रयास भी किया है। मैं मालवा के क्षेत्र में लगभग २०-२२ वर्षों से खुदाइयाँ कर रहा हूँ। मैं खुदाइयाँ उन स्थानों की नहीं करता जहां ऐतिहासिक अवशेष मिलते हैं, बल्कि उन स्थानों की करता हूँ, जहाँ पर मोहनजोदारो और हड़प्पा कालीन अवशेष हैं या उनसे भी प्राचीन गुफाएं हैं, जिनमें भित्ति-चित्र बने हों। ऐसे सारे क्षेत्रों में मैं काम कर रहा हूँ और इस कारण जब मैं उन स्थानों के अवशेष को खोदकर निकालने लगता हूं तब मुझे ऐसा लगता है कि मैं स्वयं उस अतीत में रह रहा हूँ जिस अतीत का उज्जवल इतिहास वैदिक साहित्य में दिया हुआ है। और इस कारण इतिहास के अन्दर देखने की नयी दृष्टि की आवश्यकता प्रतीत होती है।

अंग्रेजों ने इस देश का इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। विन्सेन्ट स्मिथ ने सबसे पहले जब यह प्रयास प्रारम्भ किया, तब भारतीय इतिहास को वह ईसा से एक हजार पूर्व से अधिक पहले नहीं ले जा सकता था, क्योंकि उस समय इन तथाकथित सभ्य लोगों को यह विश्वास नहीं था कि ये भारतीय कभी इतने समृद्ध रहे होंगे और उनका इतिहास इतना प्राचीन रहा होगा। जब एक विजेता राष्ट्र पराजित राष्ट्र का इतिहास लिखता है, तब ऐसा ही होता है। इस मानसिकता के कारण उन्होंने भारतीय इतिहास की रचना में भी एक दोष खड़ा करने का प्रयास किया। उन्होंने सोचा कि जैसे वह इस देश को जीतकर आए, वैसे ही यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि इस देश में रहने वाला जो बहुसंख्यक समाज है वह भी बाहर से ही आया है तो निश्चित रूप से इस देश पर राज्य करने का जो अधिकार है वह हमारे लिए भी उतना ही न्यायसंगत हो जायेगा जैसा कि यहाँ के अन्य लोगों के लिए। अतः उन्होंने यह निर्णय किया कि इस देश के बहुसंख्यक समाज के यहाँ के मूल निवासी होने के गर्व का हनन कर दिया जाय। १८६६ ई० में लन्दन में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की एक बैठक हुई, जिसमें सारे पाश्चात्य इतिहासकार सम्मिलित हुए; क्योंकि उस समय तो भारतीय इतिहासकार का वहाँ पहुँचना कठिन था। उन्होंने यह तय किया कि 'आर्य' नाम की कोई जाति थी, यह मानकर चलना चाहिए। यह आर्य जाति जो भारतवर्ष के बाहर कहीं जन्मी थी, उसका मूल स्थान मध्य एशिया में कहीं था और वहाँ से उसने ईरान—ईराक की ओर तथा भारत की ओर प्रयाण किया। इस जाति को उन्होंने नाम दिया—'आर्य'। आप में से अनेक संस्कृत के पण्डित हैं। इनमें अनेक ऐसे लोग होंगे जिन्होंने वेदों का भी अभ्यास किया होगा। उनको यह स्पष्ट ध्यान में आयेगा कि वेदों में 'आर्य' शब्द जातिवाचक रूप में एक बार भी नहीं आया है। जब इस 'आर्य' नामक जाति का अस्तित्व ही नहीं है तो हम किसी जाति को 'आर्य' कहकर कैसे सम्बोधित कर सकते हैं।

यहाँ हम 'आर्य' और 'द्रविड़' के भेद को भी समझना चाहेंगे। परम्परा से जिनकी पूजा इस भूमि पर हम करते आ रहे हैं और जिनके वंश-वृक्ष को हमारी परम्पराएं पूर्णतः वर्णन करती हैं, उन राम का वर्ण कौन सा था? अंग्रेजों ने जिन आर्यों की कल्पना की है वे लम्बी नाक वाले आर्य थे, वे ऊँचे लम्बे गौर वर्ण के थे, क्योंकि वे स्वयं भी उसी वर्ण के थे, क्योंकि उनका लक्ष्य ऐसा ही था, क्योंकि वे अपने को आर्यो का उत्तराधिकारी बताना चाहते थे, जिससे उन्होंने हिन्दुस्तान में आने वाले लोगों की ऐसी कल्पना की। राम और कृष्ण काले ही थे, यह हमको विदित है। जिस देवता की हम पूजा करते हैं, वह रंग में काला है और उन्हें इस आर्य समूह में बैठाया नहीं जा सकता। तो इस प्रकार के काल्पनिक आधार पर उन्होंने 'आर्य' नाम की जाति को भारत के इतिहास पर थोपा। मैक्समूलर ने इसको समर्थन दिया। विन्टरनिट्ज ने इसको समर्थन दिया। ह्विटनी ने इसका विरोध किया। पर ह्विटनी जैसे दो-चार ही लोग थे। अधिकतर लोग वैसे ही थे। इस कारण समवेत् रूप में इन्होंने भारतीय इतिहास में इस सिद्धान्त को बार-बार दुहराना प्रारम्भ किया। लगातार झूठ को बोलते रहने का परिणाम यह हुआ कि अच्छे-अच्छे वैदिक पण्डित भी जब भारतीय इतिहास लिखने लगे, तब उन्होंने यही माना कि 'आर्य' मध्य एशिया से हिन्दुस्तान में आये। इसी आधार पर सारी रचनाएं प्रारम्भ हुईं।

इसी बीच में एक आघात हुआ और वह आघात हुआ दक्षिणी भारत में। काल्डवेल ने सारे दक्षिणी भारत की बोलियों और भाषाओं का संकलन करके एक व्याकरण लिखने का प्रयत्न किया और वहाँ उसने द्रविड़ संस्कृति की परिकल्पना की। भारतीय वाङ्मय में 'द्रविड़' शब्द भी जातिवाचक शब्द के रूप में कभी नहीं आया है। सन् १९६१ में 'लन्दन-स्कूल ऑफ आर्क्थालाजो' में मुझे जाने का प्रसंग आया। वहाँ पर मेरा विषय था –Authors of Mohenjo-daro and Harappan Culture. मैंने उनसे पूछा कि आप की व्याख्या के अनुसार मैं कौन हूँ ? स्टुअर्ट पिगट उसमें उपस्थित थे तो उन्होंने यही कहा कि—'You belong to Aryan group'. तब मैंने कहा—कि "आप गलत कह रहे हैं। मेरे साथ अपने पूर्वजों का कम से कम तीस पाढ़ियों का इतिहास है। हम पंचद्रविडों में आते हैं।" तो यह जो racial conception है यही गलत था। यह जो इतिहास में एक बहुत बड़ा अन्याय उत्तर भारत में 'आर्य' के नाम पर खड़ा किया गया और दक्षिण भारत में द्रविड़ के नाम पर गढ़ा गया उसी के आधार पर इस देश को विभाजित करने के सारे इतिहास रचे गये। इसका विरोध करना बहुत आवश्यक है।

इसी बीच में सारे पाश्चात्य धारणा को धक्का देने वाली एक खोज हुई। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा की संस्कृति प्रकाश में आयी। मोहनजोदाड़ो के एक टीले का उत्खनन हो रहा था, उसमें जो वस्तुएँ निकलने लगीं उनकी इराक और सुमेर की सभ्यताओं से समानता दिखाई पड़ती थी। फिर भारत सरकार ने यह तय किया कि इसकी विधिवत खुदाई की जाय। एन० जी० मजुमदार को यह काम दिया गया। खुदाई प्रारम्भ ही हुई थी, अभी तो केवल ऊपर का स्तूप का एक अंश ही खोदा था, कि एक आघात हुआ। एक दिन कबाइलियों का एक दल वहाँ खड़ा हुआ और उसने कहा जो काफिर हैं वो वहाँ से अलग हट जाए। वहाँ काम करने वाले मुसलमान थे, केवल यही एक हिन्दू वहां थे, इनको गोली मारकर समाप्त कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ये खुदाइयाँ बन्द हो गयीं ! फिर जॉन मार्शल ने इस कार्य को प्रारम्भ किया। सर जॉन मार्शल ने निश्चित रुप से यह लक्ष्य किया कि ईरान, ईराक की प्राचीन सभ्यताओं से इसका बराबर सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। ईरान और ईराक की प्राचीन सभ्यताएँ ईसा से ३-४ हजार वर्ष पहले की हैं। यदि ईरान और ईराक की वे सभ्यतायें इतनी प्राचीन हैं तो हमारा मोहनजोदाड़ो-हड़प्पा भी इतना ही प्राचीन होना चाहिये। उनके अनुसार यह सभ्यता आर्यों की नहीं हो सकती थी, क्योंकि उनकी अवधारणा के अनुसार पन्द्रह सौ ईसवी पूर्व में 'आर्य' मध्य-एशिया से यहाँ आये और इसप्रकार यदि यह संस्कृति उनसे भी पुरानी है, तो यह आर्यों की नहीं हो सकती। इसके पुष्टि के लिये उनको एक बड़ा महत्वपूर्ण साक्ष्य भी मिलता है। मोहनजोदाड़ो के एक कक्ष में करीब २६ नर-कंकाल पड़े हुए मिले हैं। कोई जीने पर से उतर रहा है, वहीं मरा हुआ मिला। कोई चढ़ रहा है, वहीं मरा हुआ मिला है। उस कमरे में जहाँ कहीं इधर उधर लोग पड़े हुए मिले हैं। और फिर सर जॉन मार्शल को मानो एक हथियार मिल गया और उसने कहा—"The barbarian Aryans destroyed the cities of Mohenjo-daro and Harappa." ये सभ्य लोगों की सभ्यताएँ थीं और barbarian आर्यों ने आक्रमण करके इन्हें नष्ट कर दिया। वास्तव में ये सारे नगर शम्बरों के थे। शम्बरों को उन्होंने द्रविड़ बताया और कहा कि शम्बरों के इन नगरों को आर्यों ने नष्ट कर दिया। लियोनार्ड ऊली ने यूनेस्को की तरफ से विश्व के इतिहास पर ग्रंथ प्रकाशित किया। जब भारतवर्ष के इतिहास लिखने का प्रसंग आया तो उसमें उन्होंने लिखा कि "barbarous Aryans destroyed the superior cultures of the peolpes of Harappa and Mohenjodaro." डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार यूनेस्को की इस समिति के सदस्य थे और उन्होंने इसका जमकर विरोध किया। पर जब अपने देश में ही इस प्रकार की बातों के प्रति आक्रोश न हो तो उसका क्या परिणाम निकल सकता है। लियोनार्ड ऊली ने केवल barbarous की जगह पर semibarbarous शब्द रखकर इसका समाधान किया। लेकिन देश की सरकार की ओर से इसपर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की गयी।

सर मार्टिमर ह्वीलर जिन्होने मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई की, सन् १९५६ मे उज्जैन की खुदाई

देखने के लिये आये। मैंने उनको पत्र लिखा कि 'यह काम मेरे ऊपर है कि मैं आपको उज्जैन की खुदाई का जो सारा प्रमाण है उसे बताऊँ। लेकिन इसके अलावा भी मैं आपसे चर्चा करना चाहता हूँ, इसके लिये मुझे समय दिया जाय'। उन्होंने कहा कि चाय के समय पर बात करेंगे। सिपाही आदमी था और इसी कारणवश पुरातत्व विभाग में डायरेक्टर हुआ। काम में बहुत तेज था, क्योंकि वह योरोपीय लोगों का स्वभाव है। मैंने उससे पूछा कि आपने वेदों का अध्ययन किया है ! तो उन्होंने कहा—नहीं ! कुछ अनुवाद पढ़े हैं। स्टुअर्ट पिगट से भी मैंने यही प्रश्न पूछा था कि क्या आपने वैदिक साहित्य का अभ्यास किया है ! तो उन्होंने भी यही कहा कि मैंने ग्रिफिथ का अनुवाद पढ़ा है। मैंने कहा—मैं उस कुल में जन्मा हूँ, जिसने वैदिक परम्परा को ४००० वर्षों से सम्माननीय रीति से अपने कुल में रखा है। आपने इस वैदिक साहित्य के प्रति जितना अन्याय किया है, उतना किसी ने नहीं किया है। जिन शम्बरों के नगरों को इन्द्र द्वारा नष्ट किये जाने पर आप उनको पुरन्दर कह रहे हैं, वह इन्द्र इस सिन्धु नदी की घाटी में रहने वाले थे; बिल्कुल आरम्भ से। ऋग्वेद में इसका बिल्कुल स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वास्तव में शम्बर पर्वतवासी थे। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख आया है—"यः शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तम्" अर्थात् पर्वतों में रहने वाले शम्बरों के नगर इन्द्र ने नष्ट किये। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा जैसे नदी घाटी के नगरों को नहीं नष्ट किया है। मैंने फिर पूछा कि 'क्या आपने ऋग्वेद में उल्लिखित दाशराज्ञ युद्ध का अध्ययन किया है ?' पहले तो दाशराज्ञ युद्ध क्या होता है, यही उनको समस्या उठ खड़ी हुई। मैंने कहा--वैदिक काल का सबसे बड़ा युद्ध दाशराज्ञ युद्ध हुआ है। एक तरफ चालीस राजा और एक तरफ तीन राजा। दोनों ही वैदिक मान्यताओं के उपासक थे। और यह जो युद्ध हुआ वह हड़प्पा के नगर में हुआ। हड़प्पा को वैदिक काल में 'हरयूपिया' कहते थे, जिसका ऋग्वेद में 'वृतीवर्ता यत् हरयूपियां' कहकर उल्लेख आया है और इसका सम्बन्ध हड़प्पा से लगाया जा सकता है। मैं नहीं, यास्क जैसे भाष्यकार कहते हैं--'काचित् नगरीनां काचित् नदीनां'। वहाँ हड़प्पा नाम का नाला भी है और वही यह नगर भी है।

उस समय की एक बहुत उल्लेखनीय बात है। हम वहाँ पर पुरातात्विक अनुसन्धान और खुदाइयाँ कर रहे हैं जिससे हमको प्रमाण मिल रहें हैं कि मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के मध्यकाल में एक बड़ा सूखे का युग आया। एकदम खुश्की आ गयी। उस खुश्की के आने के परिणाम स्वरुप मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के नगर धीरे-धीरे ध्वस्त होने लगे। जिस समय खुश्की आ रही थी, उस समय अफगानिस्तान में भी आयी और भारतवर्ष में भी आयी। पुराणों में स्पष्ट वर्णन है कि सरस्वती के किनारे इक्ष्वाकु बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे और अवर्षण के कारण नदियाँ सूख गयीं। और जब यज्ञ में विघ्न पड़ने लगा तो उन्होंने अग्नि को अपने मुँह में रख लिया और इस प्रदेश में आये, जहाँ आप बैठे हैं। वहाँ आकर गंगा और सरयू की घाटी के बीच में उन्होंने अपनी उस अग्नि से सारे जंगलों को जलाया और निवास करने योग्य भूमि बनाया। यह वही काल था और उसी काल में गांधार देश में रहने वाले यदु, दक्षु, तुर्वष, आनव आदि सारे लोग उस खुश्की के कारण भारतवर्ष के आन्तरिक भागों में आने का प्रयास कर रहे थे। समूह के रुप में आते समय हरयूपिया के रास्ते से ही उनको आना था। उस समय कवि चायमान राज्य कर रहा था। वह इन राजाओं के आक्रमण को नहीं सह सका और उसका भाई अभ्यवर्तिन चायमान राजा हुआ। कवि चायमान लड़ाई में टिक नहीं सकता था और वह इसीलिए उन्हीं की भाषा बोलने लगा। उसने कहा—यदि वे हमारे नगर के ऊपर रौंदते हुए चले आयेंगे तो हम लोग किस जगह जायेंगे। उस समय सरयू के आगे का प्रदेश भयानक दलदलों से आच्छादित था। इसीलिए कहा है कि वैदिक यज्ञ करने वाले लोगों को इसके आगे नहीं जाना चाहिए क्योंकि यहाँ की भूमि निवास के योग्य नहीं है। इसके लिए वे लड़ाई लड़ने को तैयार हो गये। अपने सहायता के लिए उन्होंने पाञ्चाल के राजा सुदास को बुलाया। सुदास बड़े आत्मविश्वास के साथ उनको मदद देने के लिए गये और उन्होंने परुष्णी (रावी) नदी को पार किया और शत्रुओं पर आक्रमण किया। लेकिन यह चालीस राजाओं का समूह था और भारी युद्ध के बाद इन्हें वापस आना पड़ा। परुष्णी नदी को पार करके ये लोग तो वापिस आ गये परन्तु इनका पीछा करने वाले दक्ष, आनव उसी समय नदी में बाढ़ आ जाने

के कारण नष्ट हो गये । उनकी शक्ति कम होते ही सुदास ने फिर योजना बनाई और पुनः आक्रमण करके उनको परास्त किया । इस हड़प्पा नगर में एक राजा नहीं वरन अभ्यवर्तिन चायमान की आठ पीढ़ियों का वर्णन पुराणों में आता है जो उसी नगर में राज्य कर रहे थे और जो वैदिक मान्यताओं को मानते थे । उनको कैसे हम द्रविड़ कह सकते हैं। कैसे Non-Aryan कह सकते हैं । यह कहने वालों ने जानबूझकर अथवा अज्ञान में हमारे इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा है और हमारे संस्कृति पर आघात किया है । वह इसलिये कि हम ऐसे आघातों को सहन करना सीख गये हैं और इसलिए भी कि हम आत्मघाती भी बन गये हैं ।

हाल में ही में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लेने यूरोप गया था । वहां एक व्याख्यानमाला आयोजित की गयी थी । वहाँ भी मैंने इसी विषय को लिया था और यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया था कि यह जो लोगों के मन में आर्य और अनार्य सभ्यता का भ्रम खड़ा किया गया है तथा उनके मध्य-एशिया से आने की जो चुनौती दी गयी है, उसका सामना करना चाहिए, और अब समय आ गया है जब हमें इसका कठोरता के साथ खण्डन करना चाहिए । वैदिक साहित्य का अभ्यास करने वाले जब मोहनजोदाड़ो ओर हड़प्पा की संस्कृति के अवशेषों का इसके प्रकाश में अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है मानों उस तथाकथित सैन्धव सभ्यता की एक-एक गुत्थियाँ खुल रही हैं । वैदिक साहित्य की किस ऋचा में भारतीय आर्यों के मध्य-एशिया में रहने का या उनके बाहर से आने का इन पण्डितों का अभास हुआ, यह नहीं मालूम । लेकिन वैदिक साहित्य में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख अथवा संकेत नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि अपने पूर्वज भारतवर्ष के बाहर कहीं रहते थे । यदि वे वहाँ से आते तो जिन नदियों का उन्होंने क्रम दिया है तो उसमें कुभा (काबुल नदी) का नाम पहले आता और बाद मे सिंधु का नाम लेते, बाद में चिनाव का नाम लेते, बाद में सतलज का नाम लेते, फिर रावी का नाम लेते, फिर व्यास का नाम लेते, फिर सरस्वती का नाम लेते, फिर यमुना का नाम लेते, फिर गंगा का नाम लेते । किन्तु इनका क्रम ऐसा नही है । इनका क्रम गंगा से पश्चिम की ओर की नदियों की ओर जा रहा है । और इस कारण मोहनजोदाड़ो-हड़प्पा को जिस सभ्यता को उन्होंने अनार्य कहा है, अब हमारे पास सबल प्रमाण मिले हैं कि ये सब वैदिक सभ्यता के ही अंग थे । कालीबंगन नाम का एक बहुत बड़ा नगर राजस्थान में खोदा गया था । जिसको पूर्ण विकसित हड़प्पन सभ्यता कहा गया है । उस हड़प्पन स्तर में, यह जहाँ हम लोग बैठे हैं, इस पांडाल से भी बड़ी, एक यज्ञशाला मिली है । जिसमें तीन यज्ञकुण्ड मिले हैं । वहाँ अश्व की हड्डियाँ मिली हैं । इसको भी निचले स्तर में जिसे प्री-हड़प्पन कहा गया है, वहाँ भी यही मिला है । मैं अभी उज्जैन के पास में गंगवारा नामक स्थान पर खुदाई करा रहा था, वहाँ पर इसी काल में (३,८०० साल पहले की) एक सम्पूर्ण यज्ञशाला मिली है । मंदिर मिले हैं । मोहन जोदाड़ो-हड़प्पा और पोस्ट-मोहनजोदाड़ो काल में भी नावदाटोली और महेश्वर में खुदाइयां की गयी है । वहाँ नगर के मध्य में बहुत बड़ी यज्ञशाला मिली थी । नावदाटोली और महेश्वर के नगरों में ये यज्ञशाला तो १९५४ में ही मिली थी । ये प्रमाण आज नहीं ३० साल पहले से मिल रहे हैं। लेकिन यह देश का दुर्भाग्य है कि ३० वर्षों में भी इतिहास के इन प्रमाणों को झुठलाया गया है और उन पर पर्दा डालने का प्रयास किया गया है और हमारे बच्चों के दिमाग में वही विष फैलाया जा रहा है जो ३० साल पहले और उससे भी पहले से अंग्रेजों ने फैला रखा था । इस सारे इतिहास में परिवर्तन का समय आ रहा है, लेकिन हम इन बातों को कहने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे हैं । पाकिस्तान के लोग धन्य हैं जिनमें हिम्मत है, इस बात को कहने की । हमारे यहाँ ह्वीलेरियन स्कूल की जो शिष्य परम्परा है पुरातत्वविदों की, इनमें जरा भी दम-खम नहीं है । पाकिस्तान में अहमद हसन दानी नाम के पुरातत्वविद ने अभी पश्चिमी बलूचिस्तान में एक स्थान की खुदायी की और वहाँ पर मोहनजोदाड़ो-हड़प्पा से भी निचले स्तर के प्रमाण मिले हैं, जिसे हम प्री-हड़प्पन कहते हैं। उससे भी पूर्वकाल के प्रमाण मिले हैं । उन्होंने अपने उत्खनन के तथ्यों को 'Hemisphere' नाम की पत्रिका में प्रकाशित कराया है और कहा है 'This culture was indigenous to this part of the continent of India.'

हमारे यहाँ भी प्री-हड़प्पन मिला है । प्री-हड़त्पन से भी पुराने अवशेष मिले हैं, परन्तु हम हिचकिचाते रहते हैं । हमारे पुरातत्वविदों की परम्परा हिम्मत के साथ यह कहने में हिचकिचाती रहती रही है कि इसका जन्म यहीं हुआ ।

तो यह जो इतिहास परिवर्तन की आवश्यकता है उस पर फिर से विचार करना चाहिए । हमको यह बताया जाता है कि पोरस हारा था । मैं नही समझता कि किसी भी ग्रीक इतिहासकार ने ऐसा लिखा है कि पोरस हारा था । हमने अंग्रेजों के लिखे हुए सारे ग्रंथों को ही पढ़ना सीखा है । हमारे इतिहासकारों में कौन ऐसा है जिसने ग्रीक भाषा का अभ्यास किया है । ग्रीक स्रोतों का गहराई से अध्ययन किया है । मुझे १९६५ में ग्रीस जाने का अवसर आया था, तब मैंने इस पर विचार किया था । हाथी के ऊपर राजा का चित्र और उस पर आक्रमण करता हुआ घोड़े पर बैठा सिकन्दर का सिक्का पोरस के पराजय के इतिहास से सम्बन्धित किया जाता है । लेकिन इस प्रकार का एक भी सिक्का भारतीय क्षेत्र में नहीं मिला है । सारे बैक्ट्रियन ग्रीक्स के कैटलोगों को उलट कर देख लीजिए एक भी सिक्का हिन्दुस्तान में नहीं मिला है । यह मिला है इरान-इराक में । और उस पर पोरस का निशान भी लिखा हुआ नही मिलता । इस प्रकार यह गलत इतिहास हमारे गले के नीचे उतारने का प्रयास किया जाता है । इसी प्रकार से भरतवर्ष के मार्ग के खोजने का श्रेय जो वास्कोडिगामा को दिया जाता है, वह भी उतना ही असत्य है । मैं इन सब चीजों का अभ्यास करने स्पेन गया था और वहाँ के संग्रहालय में मुझे वास्कोडिगामा के डायरी के विषय में बताया गया । उस डायरी में स्पष्ट रूप से उसकी यात्रा का विवरण लिखा है । उसने बताया है कि जब जंजीबार (अफ्रिका तट) में उसका जहाज पहुँचा तो उससे तिगुना बड़ा जहाज वहाँ खड़ा हुआ दिखाई पड़ा । वह एक अफ्रिकन दुभाषिया को लेकर उस जहाज के मालिक से मिलने गया । यह स्कन्द नाम का एक गुजराती व्यापारी था जो भारतवर्ष से चीड़ की लकड़ी लेकर वहाँ गया था । चीड़ की लकड़ी, सागवान की लकड़ी और मसाले लेकर गया था । उसके बदले में वहाँ से हीरे लेकर कोचिन के बन्दरगाह ले आकर व्यापार करता था । वहाँ से दक्षिण भारत के उस क्षेत्रमें नायकर नामक राजा राज्य करते थे, जिनको वह हीरे बेचता था । जब वास्कोडिगामा वहाँ पहुँचा तो यह स्कन्द नामक व्यापारी साधारण वेश में एक खटिया पर बैठा हुआ था । उसने इससे पूछा की तुम कहाँ जाने वाले हो, तो इसने कहा में हिन्दुस्तान घूमने आया हूं । स्कन्द ने उत्तर दिया कि तुम मेरे जहाज के पीछे-पीछे आ जाओ और कोचीन तक पहुँच जाओगे । इतिहास की सत्यता यह है । लेकिन ढिढोरा कुछ दूसरा ही पीटा जा रहा है । हमें मूल स्रोतों को भी देखना चाहिए ।

जो ग्रीक स्रोत हमारे सामने आते हैं उनको देखें । कितने ऐसे भारतीय इतिहासकार हैं जिन्होंने पोर्चुगीज भाषा का अभ्यास किया है और वहाँ जाकर मूल स्रोतों को भारतीय दृष्टिकोण से देखा होगा । जब हम अपने देश से बाहर जाते हैं तो हमें इन बातों का भारतीय दृष्टिकोण से ही विचार करके देखना चाहिए ।

यूरोप से वापस आते समय १९६३ में कुछ अन्य देशों का प्रवास करता हुआ वापस आया था । इजिप्ट में संग्रहालय में घूम रहा था कि अचानक एक शो केस में एक छोटा सा टुकड़ा लेखयुक्त रखा देखा । मुझे लगा कि मैं तो इसका एक-एक अक्षर पढ़ सकता हूँ, और यह तो ब्राह्मीलिपि में लिखा हुआ है । इसलिए मैंने वहीं बैठकर उसमें जो लिखा हुआ था उसकी प्रतिकृति तैयार की और उसे लेकर वहाँ के संग्रहालयाध्यक्ष के पास पहुँचा । मैंने उनसे पूछा कि मैं जानना चाहता हूँ कि अमुक-अमुक नम्बर की पुरावस्तु किस जगह से और कब मिली है । तो उन्होंने बताया कि १८६० में लाल सागर स्थित पूसे नामक बन्दरगाह से खुदाई में यह पात्र मिला था । रजिस्टर में लिखा था—Script unknown undeciphered. मैंने उनसे कहा कि अब इसको बदल दीजिए और लिखिए कि लिपि ब्राह्मी है और इसे उद्वाचित किया जा चुका है । फिर मैंने १९६४ के दिल्ली में होने वाले ओरियण्टल कांफ्रेन्स में "Brahmi inscriptions outside India" नामक लेख पढ़ा था । और उसमें इस लेख का वाचन भी मैंने प्रकाशित किया था । ये सारे अवशेष जो बाहर के देशों में बिखरे हुए हैं वे निमन्त्रण देते हैं कि आओ और हमारे इतिहास को देखो । हमें याद है दिल्ली में एक कांफ्रेन्स में देवहूति

नाम की एक महिला इन्डोनेशियन का अभ्यास करके चली आयी थी। उन्होंने यही कहा था कि जर्मन, जापानी, अमेरिकन और रशन ये सारे लोग इण्डोनेशिया में जाकर वहाँ के विशाल मंदिरों के उत्खनन कर रहें। वहाँ के शिलालेखों को प्रकाशित कर रहें हैं। लेकिन दुर्भाग्य है कि जिस संस्कृति से हमारा इतना निकट सम्बन्ध है उस देश के किसी भी विश्वविद्यालय में एक भी चेयर ऐसी नही है जो इन्डोनेशियन विद्या के अभ्यास के लिए हो। मैं चाहता हूं, कुलपति महोदय, की इस दिशा में आप यदि आगे बढ़ेंगे तो मेरा विश्वास है कि इस देश के प्रति एक बड़ा काम होगा।

अपने उत्तर भाग में जो वनवासी बन्धु रहते हैं, उनके नाम संस्कृत बहुल हैं। यहाँ से वहाँ तक के इन सब अवशेषों और तथ्यों का निमन्त्रण हम सबको मिल रहा है। परन्तु यह देखेगा कौन? और इसीलिए इस भारतीय इतिहास के सम्पूर्ण मूल भावना को ही बदलना चाहिए। मुस्लिम इतिहासकारों पर हम बहुत ज्यादे विश्वास रखते हैं और यह बात भी सच है कि अपने स्वयं के इतिहास के अभाव में हमको इन सब बातों पर विश्वास रखना ही पड़ता है। तबकात-ए-नासिरी नामक ग्रन्थ हैं, जिसमें महमूद गजनवी के आक्रमणों का इतिहास है। उसमें वह लिखता है कि जब महमूद गजनवी सोमनाथ लूटकर वापस जा रहा था तब अर्बुदाञ्चल (आबू पर्वत) के दक्षिण में परमर्दि नाम के राजा ने उस पर आक्रमण किया। आक्रमण का परिणाम क्या हुआ यह उसने कभी नहीं लिखा। लिख भी नहीं सकता था। क्योंकि यदि लिखता तो उसकी गर्दन ही शायद अलग हो जाती। पर हम सब लोग जानते हैं कि धारा के राजा भोज ने इस पर आक्रमण किया था और महमूद गजनी बाकी बचे सामानों को लेकर अपनी जान बचाकर कैसे भागा इन बातों का कोई उल्लेख उसने नहीं किया है। विदिशा के पास उदयपुर नाम का एक विशाल मंदिर है। इसके दोनों तरफ खिड़कियों में दो शिलालेख लगे हैं जो इतिहास में उदयपुर-प्रशस्ति के नाम से जाने जाते हैं। उसमें स्पष्ट उल्लेख है—"यः क्रोधातुर वारिवैव सहसा म्लेच्छाधिपंदुर्धरं" अर्थात् जिसने दुर्धर्ष म्लेच्छाधिप के सैनिकों के सिर अपने घोड़ों की टाप से कुचल दिया। उदयपुर की द्वितीय प्रशस्ति में भी तुरुष्कों से संघर्ष का उल्लेख है। उज्जैनी के भग्न दानलेख में भी भोज द्वारा तुरुष्कों पर विजय करके पर्व या उत्सव मनाने का उल्लेख है। इस सम्बन्व में स्वर्गीय हरि रामचन्द्र दिवेकर नामक एक वैदिक विद्वान् ने प्रमाण प्रस्तुत किया है। उन्होंने शतपथ ब्राह्मण पर दारिल स्वामी की टीका को प्रकाशित किया जो हमको ग्वालियर में एक संग्रह से प्राप्त हुई है। दारिल स्वामी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में हुए थे और उन्होंने रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के सम्बन्व में उल्लेख किया है। वह उस समय वर्तमान थे क्योंकि उन्होंने अपने वर्णन में वर्तमान काल की क्रियाओं का प्रयोग किया है। इसके ऊपर सोमदेव नामक एक ब्राह्मण ने टीका की थी। उन्होंने टीका करते समय यह लिखा कि मैं राजा भोज का धर्माध्यक्ष हूं और राजा भोज इस समय अपने शत्रु महमूद पर आक्रमण करने के लिए गये थे, जिसके लिए मैंने इस ग्रन्थ की समाप्ति के बाद विजय के लिए अभिचार कर्म किया है। यह दूसरा प्रमाण है जब हमारे काल-क्रम पर प्रकाश पड़ता है।

ये सारे जो इतिहास हैं, इनको अपने अन्य स्रोतों में भी ढूंढना पड़ेगा। अपने यहाँ भाँटों की परम्परा रही है। मुझे बताया कि इस क्षेत्र में भांट नहीं होते परन्तु मुझे अभी कुछ विश्वास नहीं होता। भारतवर्ष में कोई कोना ऐसा नही है जहाँ आपका अपना कोई भाँट नहीं होता हो। हम कहीं भी जांय वहाँ पर जो भाँटों की परम्परा है, हरबोलों परम्परा है, इनमें ऐतिहासिक तथ्य छिपे होते हैं और ये इतिहास परम्परागत रूप में चले आ रहे हैं। मैं तो समझता हूँ कि यहाँ से यदि आप लोगों ने प्रयत्न किया तो यहाँ जो पण्डे होते हैं, इनके घरों में आने वाले लोगों की बहियाँ होती है। आपके जाते ही ये पूछते हैं—आप किस जिले के रहने वाले हैं, और वे बही निकालते हैं, और बता देते हैं। ऐसे पांच-पांच सौ सात-सात सौ साल के इतिहास के रिकार्डस् हैं। जिनकी हमने अवमानना की है, अवहेलना की है। जिसको हमने इतिहास का अंश ही नहीं माना। और वह ग्रीक का इतिहासकार हमारे देश के लिए बड़ा इतिहासकार हो गया जिसने यह लिखा है कि भारत में एक ऐसा प्राणी रहता है जिसकी पांच टांगे होती हैं और एक ऐसा प्राणी भी

रहता है जिसके पाँच मुँह होते हैं। वह इतिहासकार हमारे लिए इतिहासकार हो गया है क्योंकि उससे छना-छनाया और ये जो सारी गपें हैं उनको छाँटकर ब्रिटिश लोगों ने यह इतिहास तैयार करके हमारे सामने रखा है। उनके मूल ग्रन्थों को तो हमने पढ़ा ही नहीं। यदि हम उनके ठीक प्रकार से अनुवाद करके देखें तो लगेगा कि उन्होंने बहुत सी सुनी-सुनायी बातों और गपों को स्थान दिया है। लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि हमने अपने स्रोतों को दुर्लक्ष्य किया है और ग्रीक इतिहासकारों को अपने साथ ही जकड़ रखा है जिसके कारण इतिहास की विकृति होती हैं। आज यह आवश्यक हो गया है कि इतिहास को विकृत करने के सारे प्रयत्नों को हम एक बार निराकरण करने का बीड़ा उठावें। देश के गौरव को जगाने के लिए यह बहुत ही आवश्यक है। मैं यह नहीं चाहता कि झूठा इतिहास लिखकर खड़ा कर दीजिए। परन्तु जो इतिहास अपना है उसे देखने की आवश्यकता है। अपने मूल स्रोतों को हमें जानना चाहिए और उन्हीं के आधार पर इतिहास में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि इस दिशा में जब हम ढूँढने निकलेंगे तो एक नया उज्जवल इतिहास हमारे सामने मिलेगा।

अंग्रेजों के समय का इतिहास, आज हम चर्चा कर रहे हैं, विदेशी लोगों ने बनाया। लेकिन इस भूमि का इतिहास तो न जाने किस अतीत से जुड़ा हुआ है। और यहाँ का हर क्षण-क्षण का इतिहास हमारे संघर्ष की कथा को बताता है। यह संघर्ष पूरे देश ने लड़ा है। हम समझते थे कि केवल उत्तर-भारत में ही १८५७ का संघर्ष हुआ था। पर जब हम दक्षिण भारत में जाते हैं तो देखते हैं कि कर्नाटक में भी संघर्ष हुआ है, तमिलनाडु में भी संघर्ष हुआ है, स्थान-स्थान पर संघर्ष हुए हैं। पर उसका इतिहास हमलोगों के सामने आता ही नहीं। उत्तर भारत में हम यह समझते हैं कि विदेशी आक्रमणों के विरोध में हम ही सदा खड़े रहे। दक्षिण भारत के लोग सोते रहे हैं। लेकिन ऐसी बात नही है। वहाँ भी संघर्ष होते रहे हैं और उन संघर्षों के बीच से एक नयी संस्कृति वहां पली है और इसीलिए एक नये दृष्टि से अपने भारतीय इतिहास के पुर्नलेखन की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए मैं समझता हूँ जब हम सब इतिहास संकलित करेंगे तब एक उज्जवल अतीत का इतिहास हम लोगों के सामने आयेगा और तब एक नवीन चेतना भी सामने आयेगी।

इतिहास दिवस एवं संगोष्ठी, फैजाबाद

३-४ अगस्त, १९८२

भाग लेने वालों की सूची

१.	सर्बश्री राम ऋषि त्रिपाठी	ग्राम शाहपुर, पोस्ट सारैन, जिला आजमगढ़ ।
२.	गोविन्द तिवारी	बाबा बरुआदास डिगरी कालेज, परूइया आश्रम, फैजाबाद ।
३.	जगदीश सहाय	सुरभि- निकेत, नरायनपुर (मोतीनगर) फैजाबाद ।
४.	डा० आर० सिंह पाल	प्रवक्ता-प्रशिक्षण संकायं (बी० एड०) पं० जे० एन० पो० ग्रेजुएट कालेज-बाँदा, २१०००१ ।
५.	रज्जन लाल मिश्र	प्रवक्ता , अकबरपुर इण्टर कालेज, अकबरपुर, कानपुर ।
६.	देवी प्रसाद तिवारी	प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, बाबा बरूआदास, स्तानक महाविद्यालय परूइया आश्रम, फैजाबाद ।
७.	अभिनव सत्यदेव	प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
८.	डॉ० देव सहाय त्रिवेद	त्रिवेदम्, लंका, वाराणसी-५ ।
९.	कौशल किशोर अग्रवाल	पत्रकार, चौक बाजार, बहराइच ।
१०.	डा० बाके विहारी मणि	प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद ।
११.	विजय कुमार पाण्डेय	प्रध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय अयोध्या, फैजाबाद ।
१२.	अशोक कुमार	त्रिमाली मंदिर, लक्ष्मणघाट अयोध्या, फैजाबाद ।
१३.	डॉ० श्रीकान्त पाठक	ग्राम खरदेवरी, पत्रालय कोटखास, जनपद, गोण्डा ।
१४.	डॉ० देवी प्रसाद सिंह	श्री गाँधी डिग्री कालेज, मालटारी, आजमगढ़ ।
६५.	राम किशोर श्रीवास्तव	अध्यक्ष प्रा० इतिहास विभाग, साकेत महाविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद ।
१६.	सम्पत सिंह	सहमंत्री, शिशु शिक्षा प्रबन्ध समिति, पू०उ०प्र०, निरालानगर लखनऊ।
१७.	आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	'छायातप' नहरबाग, फैजाबाद ।
१८.	केशव प्रसाद सिंह	प्राध्यापक, प्रा० इति०, का० सु० साकेत महा० वि० फैजाबाद ।
१९.	डा० अमरेन्द्र कुमार सिंह	फैजाबाद ।
२०.	कपिलदेव तिवारी	(प्रा० इति०) २६।२ रामनगर, पहाड़गंज, फैजाबाद ।
२१.	राधिका प्रसाद त्रिपाठी	'छायातप' नहरबाग, फैजाबाद ।

२२.	रवीश कुमार	८७, आरखण्डी, रिकाबगंज, फैजाबाद ।
२३.	बंशराज शुक्ल	प्रधानाचार्य, अनिल सरस्वती विद्या मंदिर, फैजाबाद ।
२४.	हरिसेवक पाण्डेय	५७, कनीगंज, अयोध्या, फैजाबाद ।
२५.	डा० परमानन्द लाल श्रीवास्तव	इतिहास विभाग, ला० ब०, शास्त्री डिग्री कालेज, गोंडा ।
२६.	छोटे लाल	डिग्री कालेज, गोंडा ।
२७.	डॉ० वी० एस० वाकणकर	भारतीय कला भवन, माधव नगर, उज्जैन (म० प्र०) ।
२८.	मुरारीकृष्ण श्रीवास्तव	शास्त्री महाविद्यालय, गोंडा ।
२९.	योगेन्द्र	संस्कार भारती, २७३ जयपुर हाउस, आगरा ।
३०.	डॉ० महेश सिंह	अध्यक्ष, इति० वि०. वै० डि० कालेज, लालगंज, रायबरेली ।
३१.	डॉ० कुँवर बहादुर कौशिक	प्राचार्य, डि० कालेज भटवली बाजार (उनवल) गोरखपुर ।
३२.	डॉ० अनन्त रघुनाथ सहस्त्रबुद्धे	शास्त्री महाविद्यालय गोंडा ।
३३.	डा० कृष्णानन्द चौधरी	प्राध्यापक, टी० डी० कालेज, जौनपुर ।
३४.	डॉ० ओम प्रकाश सिंह	प्राध्यापक, टी० डी० कालेज, जौनपुर ।
३५.	डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
३६.	डॉ० राम अवध	भूगोल विभाग, का० सु० साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
३७.	वेद प्रकाश मिश्र	प्रा० भा० इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, बी० एच० यू०, वाराणसी ।
३८.	डॉ० ईश्वर शरण विश्वकर्मा	प्रा० भा० इति० संस्कृति एवं पुरातत्व, बी० एच० यू०, वाराणसी ।
३९.	आर० नाथ	एम० आई० कालेज अयोध्या, फैजाबाद ।
४०.	डॉ० वीरेन्द्र बहादुर सिंह	अध्यक्ष, प्रा० इ० तिलक धारी कालेज, जौनपुर ।
४१.	हरिशंकर पाण्डेय	कनीगंज, अयोध्या ।
४२.	भगवान दूबे	प्रधानाचार्य, ल० बा० वि० मंदिर विद्याकुण्ड, अयोध्या ।
४३.	देवराज उपाध्या	सहायक अध्यापक, ल० बा० वि० मंदिर अयोध्या, फैजाबाद ।
४४.	नर्वदा प्रसाद मिश्र	प्रा० इति०, मु० द० पी० जी० कालेज, प्रतापगढ़ ।
४५.	गुलाब सिंह परिहार	पठनऊ मुहाल, राठ, जनपद, हमीरपुर ।
४६.	आचार्य गिरिवर	प्रबन्धक, श्री तुलसी स्मारक भवन, अयोध्या, फैजाबाद ।
४७.	डॉ० कमला चौहान	राजा मोहन गर्ल्स डिग्री कालेज फैजाबाद ।
४८.	श्रीमती सुधा सिंह	राजा मोहन गर्ल्स डिग्री कालेज, फैजाबाद ।
४९.	जनार्दन उपाध्याय	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
५०.	गौरी शंकर त्रिपाठी	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
५१.	डॉ० ओम प्रकाश शुक्ल	शिवनगर, निकट पहाडगंज, फैजाबाद ।

इतिहास दिवस एवं संगोष्ठी, फैजाबाद

३-४ अगस्त, १९८२

भाग लेने वालों की सूची

१.	सर्वश्री राम ऋषि त्रिपाठी	ग्राम शाहपुर, पोस्ट सारैन, जिला आजमगढ़ ।
२.	गोविन्द तिवारी	बाबा बरुआदास डिगरी कालेज, परूइया आश्रम, फैजाबाद ।
३.	जगदीश सहाय	सुरभि- निकेत, नरायनपुर (मोतीनगर) फैजाबाद ।
४.	डा० आर० सिंह पाल	प्रवक्ता-प्रशिक्षण संकायं (बी० एड०) पं० जे० एन० पो० ग्रेजुएट कालेज-बाँदा, २१०००१ ।
५.	रज्जन लाल मिश्र	प्रवक्ता , अकबरपुर इण्टर कालेज, अकबरपुर, कानपुर ।
६.	देवी प्रसाद तिवारी	प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, बाबा बरूआदास, स्तानक महाविद्यालय परूइया आश्रम, फैजाबाद ।
७.	अभिनव सत्यदेव	प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
८.	डॉ० देव सहाय त्रिवेद	त्रिवेदम्, लंका, वाराणसी-५ ।
९.	कौशल किशोर अग्रवाल	पत्रकार, चौक बाजार, बहराइच ।
१०.	डा० बाके बिहारी मणि	प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद ।
११.	विजय कुमार पाण्डेय	प्रध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय अयोध्या, फैजाबाद ।
१२.	अशोक कुमार	त्रिमाली मंदिर, लक्ष्मणघाट अयोध्या, फैजाबाद ।
१३.	डॉ० श्रीकान्त पाठक	ग्राम खरदेवरी, पत्रालय कोटखास, जनपद, गोण्डा ।
१४.	डॉ० देवी प्रसाद सिंह	श्री गाँधी डिग्री कालेज, मालटारी, आजमगढ़ ।
१५.	राम किशोर श्रीवास्तव	अध्यक्ष प्रा० इतिहास विभाग, साकेतमहाविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद ।
१६.	सम्पत सिह	सहमंत्री, शिशु शिक्षा प्रबन्ध समिति, पू०उ०प्र०, निरालानगर लखनऊ ।
१७.	आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	'छायातप' नहरबाग, फैजाबाद ।
१८.	केशव प्रसाद सिंह	प्राध्यापक, प्रा० इति०, का० सु० साकेत महा० वि० फैजाबाद ।
१९.	डा० अमरेन्द्र कुमार सिंह	फैजाबाद ।
२०.	कपिलदेव तिवारी	(प्रा० इति०) २६।२ रामनगर, पहाड़गंज, फैजाबाद ।
२१.	राधिका प्रसाद त्रिपाठी	'छायातप' नहरबाग, फैजाबाद ।

२२.	रवीश कुमार	८७, आरखण्डी, रिकाबगंज, फैजाबाद ।
२३.	बंशराज शुक्ल	प्रधानाचार्य, अनिल सरस्वती विद्या मंदिर, फैजाबाद ।
२४.	हरिसेवक पाण्डेय	५७, कनीगंज, अयोध्या, फैजाबाद ।
२५.	डा० परमानन्द लाल श्रीवास्तव	इतिहास विभाग, ला० ब०, शास्त्री डिग्री कालेज, गोंडा ।
२६.	छोटे लाल	डिग्री कालेज, गोंडा ।
२७.	डॉ० वी० एस० वाकणकर	भारतीय कला भवन, माधव नगर, उज्जैन (म० प्र०) ।
२८.	मुरारीकृष्ण श्रीवास्तव	शास्त्री महाविद्यालय, गोंडा ।
२९.	योगेन्द्र	संस्कार भारती, २७३ जयपुर हाउस, आगरा ।
३०.	डॉ० महेश सिंह	अध्यक्ष, इति० वि०, वै० डि० कालेज, लालगंज, रायबरेली ।
३१.	डॉ० कुँवर बहादुर कौशिक	प्राचार्य, डि० कालेज भटवली बाजार (उनवल) गोरखपुर ।
३२.	डॉ० अनन्त रघुनाथ सहस्त्रबुद्धे	शास्त्री महाविद्यालय गोंडा ।
३३.	डा० कृष्णानन्द चौधरी	प्राध्यापक, टी० डी० कालेज, जौनपुर ।
३४.	डॉ० ओम प्रकाश सिंह	प्राध्यापक, टी० डी० कालेज, जौनपुर ।
३५.	डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
३६.	डॉ० राम अवध	भूगोल विभाग, का० सु० साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
३७.	वेद प्रकाश मिश्र	प्रा० भा० इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, बी० एच० यू०, वाराणसी ।
३८.	डॉ० ईश्वर शरण विश्वकर्मा	प्रा० भा० इति० संस्कृति एवं पुरातत्व, बी० एच० यू०, वाराणसी ।
३९.	आर० नाथ	एम० आई० कालेज अयोध्या, फैजाबाद ।
४०.	डॉ० वीरेन्द्र बहादुर सिंह	अध्यक्ष, प्रा० इ० तिलक धारी कालेज, जौनपुर ।
४१.	हरिशंकर पाण्डेय	कनीगंज, अयोध्या ।
४२.	भगवान दूबे	प्रधानाचार्य, ल० बा० वि० मंदिर विद्याकुण्ड, अयोध्या ।
४३.	देवराज उपाध्या	सहायक अध्यापक, ल० बा० वि० मंदिर अयोध्या, फैजाबाद ।
४४.	नर्वदा प्रसाद मिश्र	प्रा० इति०, मु० द० पी० जी० कालेज, प्रतापगढ़ ।
४५.	गुलाब सिंह परिहार	पठनऊ मुहाल, राठ, जनपद, हमीरपुर ।
४६.	आचार्य गिरिवर	प्रबन्धक, श्री तुलसी स्मारक भवन, अयोध्या, फैजाबाद ।
४७.	डॉ० कमला चौहान	राजा मोहन गर्ल्स डिग्री कालेज फैजाबाद ।
४८.	श्रीमती सुधा सिंह	राजा मोहन गर्ल्स डिग्री कालेज, फैजाबाद ।
४९.	जनार्दन उपाध्याय	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
५०.	गौरी शंकर त्रिपाठी	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद ।
५१.	डॉ० ओम प्रकाश शुक्ल	शिवनगर, निकट पहाडगंज, फैजाबाद ।

५२.	वीर सिंह	द्वारा श्री सुर्यबख्श सिंह ५।११।१४०, खवासपुरा, फैजाबाद।
५३.	सरल आपटे	संवाददाता, हिन्दुस्थान समाचार, फैजाबाद।
५४.	लाल जी त्रिपाठी	अध्यक्ष, प्रा० इति० वि०, डा० राजेश्वर सेवाश्रम डिग्री कालेज ढिढुंई, प्रतापगढ़।
५५.	डा० सुशील कुमार शुक्ल	आचार्य नरेन्द्रदेव किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बभनान, गोंडा।
५६.	मानिक चन्द्र अग्रवाल	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद।
५७.	शत्रुघ्न सिंह	अनिल सरस्वती विद्यामंदिर, फैजाबाद।
५८.	राजेन्द्र उपाध्याय	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद।
५९.	श्री गौड़	राजकीय जे. टी. सी०, फैजाबाद।
६०.	रमेश कुमार	८९, आरखण्डी, रिकाबगंज, फैजाबाद।
६१.	कृष्ण मोहन पांडेय	रानो पाली, अयोध्या, फैजाबाद।
६२	अरविन्द सहाय	९४८ खवासपुर साकेत, फैजाबाद।
६३.	गौरीशंकर गुप्त	साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद।
६४.	श्रीकान्त शर्मा	राजकीय जूनियर ट्रेनिंग कालेज, फैजाबाद।
६५.	श्री मोरोपन्त पिंगले	निदेशक, भारतीय इतिहास संकलन समिति, नागपुर।
६६.	श्री अ० रा० गोखले	केशव स्मृति भवन, ८४।११३,, कार्वालो नगर, कानपुर।
६७.	राम सिंह ठाकुर	संकलन प्रमुख, इतिहास संकलन समिति, उत्तरी क्षेत्र, नई दिल्लो।
६८.	श्री राणा प्रताप सिंह	मंत्री, शिशु शिक्षा प्रबंध समिति, निराला नगर, लखनऊ।
६९.	श्री ब्रह्मदेव जी, भाई जी	सहमंत्री, शिशु शिक्षा प्रबंध समिति, निराला नगर, लखनऊ।

भारतीय इतिहास संकलन समिति

संकल्पित कार्य

वर्तमान सत्र के लिए

१. वर्ष प्रतिपदा १९८३ तक यथासम्भव जिला एवं विश्वविद्यालयीन प्रमुखों की नियुक्ति कर समितियों का ढांचा तैयार करना।

२. प्रत्येक समिति प्रति वर्ष 'इतिहास दिवस' कार्यक्रम अवश्य करें।

३. अपने क्षेत्र के प्रमुख धार्मिक स्थलों में पढ़े जाने वाले 'संकल्प' एकत्रित कर भेजना।

४. कलियुग कालगणना के उल्लेखों का संकलन करके भेजना।

५. १८५७ की जन क्रान्ति का जिलाशः इतिहास संकलन करना।

६. १९३९ से १९५० तक का जिलाशः इतिहास संकलित करना।

७. इतिहास दिवस एवं सेमिनारों में पढ़े जाने वाले शोध-पत्रों का आदान प्रदान करना।

आगामी सत्र के लिए

१. संदर्भ ग्रन्थालयों का निर्माण, स्थानीय एवं केन्द्रीय।

२. स्थानीय पुरातत्व संग्रहालयों का निर्माण।

३. अपने क्षेत्र से वंशावलियों का संकलन।

४ अखिल भारतीय सेमीनारों का आयोजन।

(क) महाभारत कालनिर्णय

(ख) भारतीय कालगणना

(ग) आर्य-द्रविड़ समस्या

५. ८४ वें संवत्सर चक्र का इतिहास संकलित करना।

भारतीय इतिहास संकलन समिति

उत्तर प्रदेश

इतिहास दिवस एवं संगोष्ठी

३–४ अगस्त, १९८२

का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद

सभा

मुख्य अतिथि : प्रो० ए० पी० मेहरोत्रा, कुलपति

अध्यक्ष : प्रो० वि० श्री० वाकणकर

मुख्य वक्ता : श्री मोरोपन्त पिंगले

आयोजना

संयोजक : डॉ० देवी प्रसाद सिंह

अध्यक्ष : प्रो० आर० के० श्रीवास्तव

मंत्री : डॉ० बांके बिहारी मणि

स्वागताध्यक्ष : डॉ० बी० पी० सिंह

कोषाध्यक्ष : प्रो० अभिनव सत्यदेव

संरक्षक : प्राचार्य राम चन्द्र गुप्त

With Best Compliments from

LAKSHMI TRANSPORT COMPANY

BISHESHWARGANJ, VARANASI-221001

Buffer Stockists of :

M/s. INDIAN POTASH Ltd., MADRAS

Transporters For

M/s. KANUDIA FLOUR MILLS.

M/s. DELHI CLOTH & GENERAL MILLS Ltd.

M/s. HINDUSTAN LEVER Ltd.

H. O. Bisheshwarganj, VARANASI Phone :533 71, 63371
PARAO : 52271
SHIVPUR : 8282
RESIDENCE : 64749

Branch : TOWN HALL, GORAKHPUR Phone : 5170 & 4579

With Compliments

लखनऊ आगमन पर

होटल मधुवन

शिवा जी मार्ग (हिवेट रोड) लखनऊ।

आप का स्वागत कर अपनी सेवाएँ अर्पित करता है।

- आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित नए कमरे
- सभी शासकीय कार्यालय, बाजार एवं दर्शनीय स्थानों के निकट
- हर समय यातायात के साधन उपलब्ध
- विवाह, कान्फ्रेन्स, सांस्कृतिक कार्यक्रम इत्यादि के लिये विशाल कक्ष उपलब्ध
- उचित सेवा तथा सौम्य व्यवहार
- १५ रुपये व उससे अधिक के कमरे

सौजन्य से - कब्र के पास वाली दुकान, श्री राम रोड, लखनऊ।

JITMAL SUNIL KUMAR

Agents :

- EASTERN SPINNING MILLS Ltd.
- INDIAN RAYON CORPORATION

Dealars of

STAPLE YARN, COTTON
AND
SYNTHETIC YARN

H. O.—15 GANESH CHANDRA
AVENUE CALCUTTA-13

Branches—TANDA, JALALPUR,
MAUNATH BHANJAN

भारतीय इतिहास संकलन समिति को

हार्दिक शुभकाकनाएँ

ज्ञान इंजीनियरिंग कं०

२८, गौतमबुद्ध मार्ग, लखनऊ

फोन : दुकान ४२७४५, निवास ३५०४८

अधिकृत वितरक :

गिडोर टूल्स, टपरिया टूल्स, हिन्दुस्तान जे० बी० एवं जे० के० फाइल, वारियर टैपडाई, आई० टी० ड्रिल, ब्लैक डेगर टूल्स, कारवोरेन्डम ग्राइंडिंग ह्वील एवं हार्डवेयर व मिल स्टोर्स ।

स्मारिका प्रकाशन पर शुभकामनाएँ

मेहता टेन्ट व लाइट हाउस

(गवर्नमेन्ट कान्ट्रेक्टर्स)

शामियाना, फर्नीचर, क्राकरी एवं बिजली
सजावट के विशेषज्ञ

रामभवन, हुसेनगंज, विधानसभा मार्ग

लखनऊ-२२६००१

फोन : कार्यालय ४६०५०, निवास ४६०८२, ३५२४५

भारतीय इतिहास संकलन समिति द्वारा स्मारिका
प्रकाशन पर मंगल कामना

रुपानी ब्रदर्स

(घड़ियों के मुख्य विक्रेता)

हजरतगंज, लखनऊ

फोन : दुकान : ४३६१९ निवास : ४४५०८

शुभकामनाओं सहित

अशोक पुस्तक मन्दिर

बड़ादेव—वाराणसी

विद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशक एवं विक्रेता ।

फोन : 63922

स्मारिका प्रकाशन के अवसर पर

हार्दिक शुभकामनाएँ

भारत व्यापार

भारत व्यापार भवन, गौतमबुद्ध मार्ग, लखनऊ-२२६००१

हर प्रकार के बिजली के सामान, पंखे व सिलाई मशीन के प्रसिद्ध वितरक

फोन—दुकान ४४७९८, निवास ५२३५७

- SUITINGS
- SHIRTINGS
- READYMADES

&

- SAREES

LILA BROS.

LEADING MENS SHOP OF UTTAR PRADESH

34, HAZRATGANJ, LUCKNOW-226001

Phone : 43244

Estd. 1950 Gram—'REMEDY'

U. P. DRUG HOUSE (Pvt. Ltd.)

PHARMACEUTICAL MANUFACTURERS OF REPUTE

Registered Office & Factory :—
38, MAJOR BANKS ROAD
(Near PRATIBHA CINEMA)
LUCKNOW-226001

Phones : 47136, 44308

भारतीय इतिहास संकलन समिति के अभिनव प्रयास हेतु हार्दिक शुभकामनाएँ

रामासरे

बानवाली गली, चौक, लखनऊ–२२६००३

फोन : ८२३७७

नवलकिशोर मार्ग (हजरतगंज)

लखनऊ–२२६००१

उच्च कोटि की मिठाइयों व नमकीन के प्रसिद्ध विक्रेता

पौष्टिकं मधुरं स्वादु । मिष्ठान्नं निर्मितं प्रियम् ॥

With Compliments

★

A. G. ERECTORS

Mechanical Boiler Erection &
Fabrication Specialist Etc.
SHAKTI NAGAR, MIRZAPUR

With Compliments

●

M/s Bhoopal Singh & Co.

ENGINEERS AND CONTRACTORS
CIVIL AND MECHANICAL
OBRA, MIRZAPUR

With Best Compliments of :

INDUSTRIAL MILL STORES

Head Office : GANESHGANJ, MIRZAPUR
Gram : MILLSTORES Phone : 607 Offi., 608 Resi

Branch : 14-15, KASTURBA MARKET,

P. O. OBRA, Distt. MIRZAPUR Phone : 135

Authorised dealer for Obra Project for :
'WOLF' TOOLS ● BAHCO TAPRIA TOOLS
ADVANI ORLIKAN WELDING
EQUIPMENT

भारतीय इतिहास संकलन समिति
को
हार्दिक शुभकामनाएँ

संजय मुरब्बा अचार भंडार

अमीनाबाद (बैंक आफ बड़ौदा के सामने)
लखनऊ

लखनऊ में हर प्रकार के स्वादिष्ट मुरब्बे व
अचार की सुप्रसिद्ध दुकान

भारतीय इतिहास संकलन समिति के कार्य की प्रगति हेतु
शुभकामनाएँ

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के प्रयासों को इतिहास भुला नहीं सकता। हम सब उसी को समाज के सम्मुख लाने हेतु कृत संकल्प हैं।

मालवीय मिशन

लखनऊ शाखा

With Best Compliments of

●

ASHOK CONST. CO.

ENGINEERS AND CONTRACTORS

OBRA (Mirzapur), U. P.

SPECIALISTS IN :

ALL TYPES OF CIVIL WORKS FOR POWER, INDUSTRY AND RAILWAYS, WE BUILD FOR THE NATION WITH SPEED, QUALITY AND ECONOMY

Courtesy **LION SUDAMA PATHAK**

Phone : 64

With Best Compliments From :

LUTHRA BROTHERS

Engineers & Contractors
6-G-12, OBRA COLONY,
OBRA (MIRZAPUR), U. P.
Phone : 191

Specialist in :
All Types of Civil, Structural and Building Works

We Serve the Nation

EFFICIENCY IS OUR BYWORD
RELIABILITY IS OUR REPUTATION
SPEED IS OUR MOTTO
QUALITY IS OUR AIM
ECONOMY IS OUR ENDEAVOUR

Courtesy :
Lion Avinash Luthra
Lion Subhash Luthra

WITH
BEST
COMPLIMENTS OF :

Lucknow • State Museum Library •

VERGHESE CONTRACTORS

OBRA

Qr. No. 3-G I
OBRA COLONY

श्री मथुरा राय

महाप्रबंधक, ओबरा

प्रवंधक, श्री गांधी स्नतकोत्तर महाविद्यालय

मालटारी, आजमगढ़

अध्यक्ष, श्री सत्यसेवा कन्या उ० मा० वि०

एवं शिशु मंदिर, मालटारी, आजमगढ़

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि भारतीय इतिहास संकलन समिति उत्तर प्रदेश स्मारिका प्रकाशित कर रही है। इतिहास से सदैव भविष्य निर्माण में प्रेरणा मिली है। इसे ध्यान में रखकर संकलन समिति सच्चा इतिहास तैयार करने में योगदान करेगी--ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं समिति एवं स्मारिका की सफलता की कामना करता हूँ।

मथुरा राय

महाप्रबंधक निवास
ओबरा, मिर्जापुर
२९ नवम्बर, १९८२

शिशुकुल (छात्रावास)

सरस्वती शिशु मन्दिर—पक्कीबाग—गोरखपुर

(आवासीय सुविधा से युक्त योग्य शिक्षा व्यवस्था)

हमारी विशेषतायें—

- भारतीय जीवन आदर्शों पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था।
- बालकों के शारीरिक विकास हेतु खेल कूद व्यायाम आदि के लिये आधुनिक उपकरणों से युक्त विशाल क्रीड़ांगन।
- मानसिक शिक्षा हेतु पाठ्य विषयों के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकालय की व्यवस्था।
- नैतिक शिक्षा हेतु महापुरुषों की जयन्तियों, उत्सवों तथा विभिन्न कार्य-क्रमों का समय-समय पर आयोजन।
- आध्यात्मिक विकास हेतु योग शिक्षा की व्यवस्था।
- सामान्य ज्ञान की वृद्धि हेतु देशदर्शन, शिविर, वनविहार, शैक्षणिक भ्रमण आदि का समय-समय पर आयोजन।
- आधुनिक साज-सज्जा एवं सुविधाओं से परिपूर्ण।
- केवल कक्षा तृतीय से अष्टम् तक के बालकों के रहने एवं उनकी शिक्षा की व्यवस्था।

आलोक :—विशेष जानकारी हेतु शिशुकुल प्रमुख, शिशुकुल, सरस्वती शिशु मन्दिर, पक्कीबाग, गोरखपुर से सम्पर्क करें।

शिशुकुल प्रमुख
सरस्वती शिशु मन्दिर
पक्कीबाग—गोरखपुर